

धारणा - 192-201

अनाहतनाद

ध्यान सूक्ति - 192-201

शब्द अनाहत नाद तेही गाया, तेही योगी को व्यापे न माया।
घोष सदा आत्म-शुद्धिकारी, कांस्य इच्छाशक्ति रोके अपारी।
शृंगनाद अभिचारिका गावा, घंटा देवाकर्षक कहावा।
वीणानाद दूरदृष्टि भयउ, वंशनाद तत्त्व ज्ञाता बनहुं।
दुंदुभी नाद करे मृत्यु से मुक्ता, शंखनाद बहुरूप शक्ति युक्ता।
मेघनाद सर्व दुःखनाशक, तूं कार सर्व सिद्धा का शासक।
दश प्रकार सरिता की भांति, सुने ते पावे विवेकख्याति।
परम ज्ञान की प्राप्ति तेही, महाशिव अरु महाविदेही।
शब्द ब्रह्म निष्णात ते बनहुं, प्राण शक्ति ते सदा उच्चरहुं।

ध्यान : एक नई दिशा (भाग-14) / 1

ध्यान विधि - 192-201

अपनै भीतर उतरकर
अनाहतनाद के सूक्ष्म
श्रवण द्वारा बंधन और
सुविस्ती के पाद उतर
जाओ ।



भी

तब से उठता हुआ
अंतर्नाद अथवा अनाहतनाद ही
सही नादब्रह्म है। क्योंकि भीतर
का ब्रह्म ही उसका अनुभव
करता है। वह नाद इन्द्रियातीत
है अर्थात् इन्द्रियाँ उसका अनुभव
नहीं कर सकतीं। वह नाद कानों
से नहीं सुनाई देता। उस नाद
का अनुभव केवल आपकी चेतना
ही करती है। वह अनुभव तब
होता है, जब आप गहन मौन
में उतर जाओ।

प्रिय साधको!

हम एक ऐसी ही विधि की ओर जा रहे हैं; वह है नादब्रह्म ध्यान। इस विधि को समझने के लिए पहले एक विशेष बात समझ लीजिए कि नाद ब्रह्म कब बन सकता है? नाद का अर्थ है एक विशेष ध्वनि जिससे रोम रोम पुलकित हो उठता है और ब्रह्म का अर्थ है संसार का खो जाना, इच्छाओं का, चाहों का अदृश्य हो जाना और संपूर्ण तनावमुक्त और आनन्दपूर्ण अवस्था में शुद्ध चैतन्य की मौजूदगी।

कुछ ध्यानमार्गियों ने नादब्रह्म ध्यान के लिए कुछ विचित्र और गलत विधियाँ बताई हैं। भीतर से उठता हुआ अंतर्नाद अथवा अनाहतनाद ही सही नादब्रह्म है। क्योंकि भीतर का ब्रह्म ही उसका अनुभव करता है। वह नाद इन्द्रियातीत है अर्थात् इन्द्रियाँ उसका अनुभव नहीं कर सकतीं। वह नाद कानों से नहीं सुनाई देता। उस नाद का अनुभव केवल आपकी चेतना ही करती है। वह अनुभव तब होता है, जब आप गहन मौन में उतर जाओ।

गहन मौन का अर्थ ज़रा समझ लेना। गहन मौन का अर्थ केवल

वाणी का मौन नहीं अथवा लोग जिसे काष्ठ मौन कहते हैं ऐसा भी नहीं। लकड़ी के जैसे मौनी मत बनो, अगर मौनी बनना है, तो वृक्ष से मौनी बनो। लकड़ी शुष्क है, केवल वृक्ष हराभरा होता है। मैं कहती हूँ कि काष्ठमौन मत रखो। गहन मौन में उतरो। काष्ठमौन आपको जगत के प्रति जड़ बना सकता है। जबकि गहन मौन आपको सजग, साक्षी और प्रफुल्लित बनाता जाएगा। गहन मौन का अर्थ है मन से भी मौन। वाणी और इन्द्रियाँ तो शांत हैं परंतु चित्त भी परम शांति में डूबा हुआ है। भीतरी युद्ध का वहाँ संपूर्ण शमन हो गया है। जैसे कि बुद्धावस्था, महावीरावस्था।

प्यारे साधको!

हमारे धर्मों के साथ हरेक बार एक हादसा घटता है। बुद्ध के बाद लोग बुद्ध का अनुकरण करने लगते हैं, महावीर के बाद लोग महावीर के अनुकरण में भ्रम पालते हैं, ज्ञान प्राप्त नहीं होता। मैं कहती हूँ कि बुद्ध या महावीर बनने की कोशिश मत करो परंतु सजग रहो। बुद्धावस्था और महावीरावस्था में स्थिर होने के लिए आप गहन मौन में उतरो, गहन मौन में उतरते ही ऐसी अवस्था अपनेआप आपके करीब आएगी और वह आपकी सहज उपलब्धी हो जाएगी। फिर आपको नाम या वेष बदलने की जरूरत नहीं रहेगी। फिर लाल कपड़े पहनो या हरे, कपड़े फेंक दो या लंगोटी लगाओ, कोई फर्क नहीं पड़ता। जो फर्क महसूस होगा वह अवस्था से होगा, अनुकरण से नहीं। अनुकरण से तो आप पहले खुद को ही धोखा देंगे बाद में दुनियाँ को। धोखे से धर्म नहीं अधर्म फैलता है। धोखे से कोई भी व्यक्ति कभी भी ध्यान में प्रवेश नहीं कर सकता क्योंकि ध्यान सजगता का मार्ग है। ध्यान आपको गहन मौन में ले जा सकता है। और एक संदर्भ में गहन मौन ही है ध्यान।

गहन मौन के उतरे बिना आप अपने अंतर्नाद को नहीं सुन

सकते। दुनिया की ध्वनियाँ चोट के द्वारा पैदा होती हैं। वह चोट फिर हल्की हो या भारी, सूक्ष्म हो या स्थूल। आप कहेंगे कि सूक्ष्म चोट ? मैं कहूँगी, हाँ। आपके गले की स्वरपेटी से वे ध्वनियाँ निकलती हैं। वहाँ भी एक हल्की सी चोट है, कुदरत की कृपा है कि आप उस चोट को महसूस नहीं कर सकते। मनुष्य अगर उस चोट को महसूस कर सका होता तो वह पागल हो जाता। क्योंकि दिन में हजारों ध्वनियों का उच्चार करता है – प्रत्येक उच्चारण पर चोट का अनुभव हो तो वह परेशान हो जाता। परंतु वह चोट सूक्ष्म है। वायु की हल्की चोट से स्वरपेटी ध्वनि उच्चारण में कार्यरत रहती है और जिह्वा, तालु, ओष्ठ, दंत, मूर्धन्य सभी अवयवों पर थोड़ा बहुत वज्रन पड़ता है। विशेष प्रकार की चोट के बिना शब्दोच्चार संभव नहीं बन सकता। परंतु मनुष्य के भीतर इस प्रकार से अनाहत नाद स्वतः ही उत्पन्न होते हैं।

संस्कृत के दो शब्द हैं – आहत और अनाहत। आहत का अर्थ है – “मिथ्या,” “कहा हुआ” अथवा जिसकी गणना हो सके। मैं कहूँगी कि गणित का अंत है, ब्रह्म अनंत है। आहत का दूसरा अर्थ है, आघात किया गया। जो दुन्यवी, जो सांसारिक है उस पर आघात हो सकता है परंतु वो संसार के पार का है, उसपर आघात नहीं हो सकता। इसलिए तो ब्रह्म को अनंत, अपार, अव्याख्यायित कहा है। और ज्ञानी पुरुष अपने आत्मा को ही ब्रह्मरूप मानते हैं। और आत्मा के लिए वेद, उपनिषद् और गीता सभी कहते हैं कि वह अछेद्य है, क्लेद्य है, अविनाशी है। अनाहत नाद आत्मा का नाद है – वह उत्पन्न नहीं किया जा सकता, वह स्वयंभू है।

अनाहत का अर्थ है कोरा, नया, आघात रहित। यहां यह नहीं समझना कि केवल ज्ञानी की आत्मा में से ही अनाहत नाद प्रगट होता है। ना.. यह नाद तो प्रत्येक आत्मा से ध्वनित होता रहता है। प्रतिपल वह नूतन है, नया है, आघात प्रत्याघात के पार है। फर्क सिर्फ इतना है कि

यह अनाहत नाद हर आत्मा में स्वतः उत्पन्न होने वाला होने पर भी उसे प्रत्येक देहधारी नहीं सुन सकता, केवल आत्मप्रतिष्ठित मनुष्य ही सुन सकता है।

अब आप प्रश्न यह करेंगे कि हम आत्मप्रतिष्ठित कैसे हो पाएंगे ? मैं सीधा सा जवाब देती हूँ – ध्यान से। ध्यान बाहर की ओर निरर्थक फैकती रहती आपकी समग्र ऊर्जा को संजोकर अंतर्मुखी बना देगा। इस अभ्यास को पतंजलि “प्रत्याहार” कहते हैं। मूल में तो वह सजगतापूर्ण ध्यानाभ्यास ही है।

सबसे पहले तो मैं यह कहूँगी कि ध्यान में बैठने वाला प्रत्येक व्यक्ति ध्यानस्थ हो ही जाए ऐसा जरूरी नहीं है। परंतु प्रारंभ में चित्त के विचलित होने से सजग साधक को पता चलता है अपने मन का, मन के द्वारा खड़ी हो रही बाधाओं का, भीतर भरे हुए प्रपंच का, उससे उठती हुई दुर्गंध का, आंतरिक बीमारियों का, अंदर की अव्यवस्था का, उस अव्यवस्था के कारण खड़ी होती परेशानियों का। स्वाभाविक है कि रोग का निदान हो जाने के बाद ही औषधि लागू होती है। ध्यान आपके मन का निदान भी करता है, उसे स्वस्थ भी करता है और उसे रूपांतरित भी कर देता है। रूपांतरण का अर्थ यह नहीं कि बाहर का रंगरूप बदल जाना, परंतु रूपांतरण का अर्थ है मूलभूत गुणधर्म बदल जाना। जैसे कि लोहे का सोना बन जाना। बस ध्यान यही करता है आपके साथ। जब रूपांतरण घट जाता है तब आप अपनी आत्मस्थिति में ही संतुष्ट और आनंदित रहने लगते हो। और आत्मा से प्रतिपल उत्पन्न नूतन ध्वनियाँ जिसे योगशास्त्र अनाहत नाद कहते हैं वे अपनेआप सुनाई देने लगती है। यह एक ऐसी अवस्था है कि वहाँ कान होते हुए भी कान की शक्तियाँ बाहर की ओर नहीं भागतीं अर्थात् जो सार्थक नहीं है अर्थात् जो अर्थपूर्ण नहीं है, ऐसी ध्वनियाँ सुनने को वे तत्पर नहीं होते। कान लक्ष्य ही नहीं

देते हैं निरर्थक शब्दों पर, आँख खिंचती ही नहीं हैं निरर्थक दृश्यों की ओर। ऐसे ही प्रत्येक इन्द्रियाँ और उनकी शक्ति अंतर्मुखी हो जाती हैं। बाहर की ओर चित्र और शब्द भले चलते रहें परंतु आप नहीं भागते हैं उन शब्दों या दृश्यों के साथ।

ऐसी अवस्था में साधक विशुद्ध प्रज्ञा में जीता है। साधक की प्रज्ञा स्थिर हो जाती है सत्य में, अर्थात् निजस्वरूप के साथ। और फिर भीतर से जो कुछ भी सुनाई देता है वह होता है अनाहत नाद।

प्रिय साधको!

एक दूसरी बात भी याद रहे। इस विधि को बताते हुए शिव पार्वती से कहते हैं कि “हे भामिनी! श्रद्धावान, धार्मिक, भक्तिमान, बुद्धिमान, आस्तिक एवं शुद्ध चित्त वालों को यह ज्ञान दें।”

मैं श्रद्धावान हृदय का अर्थ करती हूँ जिसका हृदय दिव्य विषयों का भरोसा कर सके। हर चीज इन्द्रियों या मस्तिष्क की पकड़ में नहीं आ सकती हैं। दिव्य विषय को अथवा सूक्ष्म विषय को पकड़ने के लिए आप में थोड़ी बहुत भी दिव्यता अनिवार्य है। जो स्वयं दिव्यता शून्य है वह दिव्य बात, व्यक्ति या अनुभव पर कभी भी भरोसा नहीं कर सकता। अगर आपका हृदय श्रद्धाशून्य है तो समझ लेना कि आपकी खोज, प्यास और प्रयास हमेशा अ-दिव्य चीजों के लिए ही रहा है। आप दुन्यवी चीजों के पीछे ही भागे हैं। आप भीतर और बाहर से इतने बेजान अथवा जड़ हैं कि आप किसी भी प्रकार के दिव्य जगत को स्पर्श नहीं कर सकते – कोई भी दिव्यता आपको अप्लावित नहीं कर सकती – इसका मतलब ये नहीं करना कि आप बहुत बड़े बुद्धिजीवी हैं। इसका मतलब सिर्फ इतना है कि आप दिव्य जगत में पंगु हैं। अपाहिज है, जड़ है आपका सूक्ष्म जगत बहरा हो गया है, सुन्न हो गया है और अज्ञानवश उस लकवाग्रस्त स्थिति को भी आप आपकी सिद्धि समझते हैं। आप

स्वयं को बुद्धिजीवी मानते हैं। आप अपने को होशियार समझते हैं और श्रद्धावान को मूर्ख। आपके भीतर भाव का झरना सूख गया है, आपके इर्द-गिर्द प्रतिपल बहते हुए परमात्मा के विभिन्न झरने आपको भिगो नहीं सकते। आप प्लास्टिक जैसे बन गए हैं। अहंकार और नासमझी के आवरण ने आपको निष्प्राण जैसा बना दिया है। इसे मैं आध्यात्मिक प्रदूषण कहूंगी।

आपका श्रद्धावान होने का अर्थ है आप सही अर्थ में प्राणवान हैं और तभी आप प्राणों के भीतर धबकते हुए शब्दब्रह्म को सुन पाओगे – और कोई रास्ता नहीं है। इसलिए शिव कहते हैं कि यह ज्ञान श्रद्धावान को ही देना।

धार्मिक शब्द भी बड़ा प्यारा है। लोगों ने धर्म के अर्थ को विकृत कर दिया है। अथवा तथाकथित धर्मगुरुओं ने धर्म शब्द के अर्थ का अनर्थ कर दिया है। धर्म संस्कृत शब्द है इसके अनेक अर्थ हैं। धर्म का एक अर्थ है सत्य। शिव का कहना है कि जो सत्य में जीने वाला हो उसे ही यह ज्ञान देना। बात भी सही है। अनाहत नाद अथवा शब्दब्रह्म ही परम सत्य है क्योंकि वह किसीके द्वारा उत्पन्न नहीं होता है, न कोई उसे अपनी इच्छा से बंद कर सकता है। वह तो हर किसी में धबकता रहता है – नादान्वित होता रहता है। वह एक स्वयंभू नाद है – उसे अधार्मिक व्यक्ति कैसे सुन पाएगा ?

मैं कहती हूँ कि दुनिया में ज्यादातर लोग अधार्मिक हैं। मेरे अनुसार अधार्मिकता का अर्थ है, सत्य से विमुख। यहाँ धर्म का संबंध मंदिर मस्जिद से मत जोड़ना। अब बहुत हो गया। अब जाग जाओ। होश में आ जाओ। आप भले मंदिर मस्जिद में जाते हो परंतु सत्यान्वेषी नहीं हो तो मेरी दृष्टि में अधार्मिक हो और मानो कोई मानवसर्जित धर्म में न मानते हो परंतु सत्यपरक हो तो परम धार्मिक हो। और ऐसा योगी ही

इस शब्द ब्रह्म को सुन सकता है। ज्यादातर लोग दूसरों के सत्यों पर छानबीन करने में परम सत्य को जानना और उसमें जीना चूक जाते हैं। ध्यानमार्ग में चूकना मना है। चूकने का अर्थ है, अजागृति। ध्यान जागे हुए लोगो के लिए है। जागने की चाह वालों के लिए है। ध्यान आपको जगा देता है अथवा जागा हुआ ही ध्यान में उतरता है। ध्यान परम सत्य है। बाकी अजागृत लोग संसार में उतरते रहते हैं।

शिव कहते हैं कि यह ज्ञान बुद्धिमान को ही देना चाहिए – बात बिलकुल सटीक है। यहाँ बुद्धिमान का अर्थ करना है विवेकशील, जिसका विवेक जाग गया हो वही सच्चा बुद्धिमान है। स्वार्थ बुद्धि के कुछंद में पड़कर चालाकीपूर्ण ढंग से जीकर दुन्यवी स्वार्थों को साधने वाला स्वयं को चतुर समझता है और मूल्यवान जीवन को तहस-नहस कर देता है। ऐसे लोग भले कितने भी आगे निकल जाएं परंतु उन्हें विवेकशील नहीं कह सकते। विवेकशून्य मनुष्य साधना में प्रवेश करने का प्रयास करे तो भी सफलता उसके निकट नहीं आती है। विवेक का दूसरा नाम है अंतर्दृष्टि। अंतर्दृष्टि वाले लोग शब्द और क्रिया के परिणाम को भीतर देखते हैं फिर बोलते हैं अथवा कार्य में प्रवृत्त होते हैं। जब की स्वार्थबुद्धि मनुष्य को अंध कर देती है और ऐसे अंध लोग भ्रामक सफलताएं प्राप्त करने के बाद भी असफल रहते हैं।

ऐसे लोगों के लिए अध्यात्म भी भ्रामक होता है। वे सही अर्थ में आध्यात्मिक नहीं बन सकते और इसीलिए शिव कहते हैं कि बुद्धिमानों को यह ज्ञान देना चाहिए। वास्तव में वही सच्चा बुद्धिमान है जो महाशांति और संतोष के विश्व में प्रवेश करके साधारण जीवन को अमूल्य और उत्सवपूर्ण बना दे।

दूसरी एक बात बहुत महत्वपूर्ण है – शिव ऐसा नहीं कहते हैं कि आस्तिक को ही यह ज्ञान देना चाहिए परंतु शिव कहते हैं कि अ-

नास्तिक को यह ज्ञान दें। आस्तिक का अर्थ है पूर्ण ब्रह्मांड में आस्थावान। केवल एकाद मंदिर, मूर्ति या व्यक्ति पर जिसकी आस्था है उसे में अधूरा आस्तिक कहती हूँ। परंतु पूर्ण आस्तिक की आस्था तो समग्र विश्व में होती है। ऐसा आस्तिक व्यक्ति सहज ही श्रद्धा और विश्वास से भरा हुआ होता है। उसे कुछ विशेष सिखाने की जरूरत ही नहीं है। और नास्तिक व्यक्ति ऐसी अपार श्रद्धा का आनंद ले नहीं सकता इसलिए शिव कहते हैं कि यह अनास्तिक को दें।

मेरी दृष्टि में आस्तिकता और नास्तिकता। ऐसा शब्द है जिसके द्वारा मनुष्य की आंतरिक अवस्था का पता चलता है। आस्तिकता हकार है और नास्तिकता नकार है।

यह विश्व हकार से चलता है, हकार से भरा है। जड़, चेतन सबमें कहीं न कहीं हकार भरा है। नकार अकस्मात है और हकार अस्तित्व की वास्तविकता। सृजनशीलता के मूल हकार में हैं। नास्तिक को ज्ञान देना इसलिए निरर्थक है कि उसका मन नकार से भरा हुआ होता है। अहंकारपूर्ण मन से यह नकार पैदा होता है। सत्य की संभावना को नकार देने वाला चित्त कभी भी सत्य का साक्षात्कार नहीं कर सकता। ऐसे लोगों के साथ समझदार आदमी को अपनी ऊर्जा का व्यय नहीं करना चाहिए। अवपादरूप बुद्ध या महावीर जैसी कोई दिव्य चेतना अंगुलीमाल जैसे हिंसक प्रकृति के आदमी को सीधे शक्तिपात से रूपांतरित कर दे, यह बाद अलग है – परंतु ज्यादातर तो नकार से भरा हुआ आदमी नम्रता के साथ साधना की सीढ़ियाँ नहीं चढ़ सकता। इसलिए शिव कहते हैं कि अ-नास्तिक को ही यह ज्ञान दें क्योंकि अ-नास्तिक में हकार को जन्म देने की संभावना बची हुई होती है। उसका अहंकार छोटा अथवा कम खतरनाक होता है। उसका विसर्जन होने की गुंजाइश होती है। ऐसा मनुष्य गुरु, संत अथवा ज्ञानी तथा ध्यानी पुरुषों की बात को

अपने अंतरमन तक पहुंचने देता है और साधना में प्रवृत्त होकर एक दिन अचानक बदल जाता है।

प्रिय साधको!

अनाहत नाद की अनुभूति के लिए शिव प्रारंभ में सुश्वास और सुशय्या – दो शब्दों का विधि प्रवेश के लिए प्रयोग करते हैं। वैसे तो श्वसन क्रिया के लिए “श्वास और उच्छ्वास अथवा प्रश्वास” ऐसे ही शब्द मिलते हैं। परंतु ज्ञान की बात समझने के लिए ज्ञानी जनों को कभी कभी एक मौलिक भाषा का प्रयोग करना पड़ता है। कुछ विशेष अभिव्यक्ति के लिए एक नई भाषा जन्म लेती है। शिव के द्वारा ऐसा ही एक शब्द उतरा है, “सुश्वास”। सुश्वास का अर्थ है, श्वास की ऐसी शांतगति जो आपको भीतर उतरने दे, विक्षेप न करे। सुश्वास का अर्थ है, आप अपने श्वास को देखें – श्वास को देखना अर्थात् मन की स्थिति को देखना; आप अशांत तो नहीं हैं? क्रोध अथवा विषय वासना से ग्रस्त तो नहीं हैं? आप किसी चिंता से ग्रस्त तो नहीं हैं? क्योंकि इन सारी स्थितियों में बहती हुई श्वास को सुश्वास नहीं कह सकते। सुश्वास का अर्थ है श्वास की सहज एवं शांत गति जो जीवन दे रही है।

शिव ने दूसरा शब्द प्रयोग किया है, सुशैय्या। शैया का अर्थ है, जिसमें शयन किया जाता है। सुशैय्या का अर्थ है, शरीर को अनुकूल आसन। एक अर्थ में ऐसा भी कह सकते हैं कि योगी शरीर को शयनासन में रखकर भी साधना में लीन हो सकता है।

ध्यान विधियों में शरीर गौण है। चेतना का घनीभूत होकर केन्द्र पर केन्द्रित होना महत्वपूर्ण है। कई विधियों में शरीर और इन्द्रियों को काम में लिया जाता है परंतु केन्द्र में तो चित्त का सूक्ष्म विषय में स्थिर होना ही है।

इस विधि में उतरने के लिए शिवपुराण कहता है कि लोगों के

सो जाने के बाद रात के वक्त दीपक जलाए बिना इस धारणा को करे – ऐसा क्यों? क्योंकि आज का मनुष्य भीतर सुव्यवस्थित नहीं है। इसलिए शांत नहीं है। अशांतमन अशांति को फैलाता रहता है। उपरांत मनुष्य जब सो जाता है तब मजबूरन उसे शांति का अहसास करना पड़ता है। वह स्वप्न में भी सुखी नहीं होता, उसका मन स्वप्न में भी उपद्रव करता रहता है। परंतु उसका असर बाहर कम और भीतर ज्यादा होता है। रात का वक्त योगियों के लिए श्रेष्ठ कहा है। उपनिषद्, गीता, योगशास्त्र, तंत्रशास्त्र सभी रात के पक्ष में हैं। दूसरे अर्थ में वे सब शांति के हिमायती हैं। बाहर की शांति, आंतरिक शांति का ध्येय लेकर चलने वाले साधक की सहायता कर सकती है। इस विधि में दीपक जलाना भी निषेध माना है। क्यों? प्रकाश में बाहर की बहुत सारी चीजों को आंख देख सकती है। आंख के ज्ञानतंतु दृश्य को देखकर दिमाग को मेसेज देते रहते हैं। साधना में घर में या कमरे में या इर्द-गिर्द पड़ी हुई चीजों को देखना निरर्थक है। आपके मस्तिष्क को अकारण विक्षिप्त होने से बचा लो, दिया जलाने की कोई जरूरत नहीं है। सुखासन में बैठें, एक मुहूर्त तक अर्थात् ४८ मिनट तक आपके दोनों कानों के छिद्र अपनी तर्जनी अंगुली से बंध करके रखो। कुछ दिनों तक जब नेत्र अभ्यास के दौरान न अन्य दृश्यों को देखेंगे, वाणी न शब्दों को बोले, और कान नहीं किसी ध्वनि का स्वीकार करेंगे तब जठराग्नि से प्रेरित होकर साधक को एक अव्यक्त शब्द सुनाई देने लगेगा। उस शब्द का ४८ मिनट तक ध्यान करने पर धीरे धीरे एक अवस्था घटित होती है और शब्द समाप्त हो जाता है। वह अवस्था ही ध्यानावस्था है। वहाँ गहन शांति, गहन मौन, गहन एकांत और गहन शब्द का एक साथ अनुभव होता है। ध्यानशास्त्र कहता है कि यह हर प्रकार के ज्वर और अनेक प्रकार के उपद्रवों को शांत कर देता है।

प्रिय साधको!

यहाँ मैं कुछ बात विशेष रूप से करना चाहती हूँ। आजकल कुछ धंधादारी तथाकथित योगियों ने योग और रोग पर जोर दिया है। योग के द्वारा आत्मस्वरूप में स्थिर और शांत होने के बोध के स्थान पर करोड़ों लोग भटक गए हैं। मार्गभ्रष्ट हो गए हैं। नासमझियों को ज्ञान मान लिया गया है। योग का अवमूल्यन हो गया है। योग के मूल उद्देश्य को बता ही नहीं जाता और केवल रोगों को दूर करने के उपाय के रूप में उसे साबित किया गया है। और यह भी केवल शारीरिक रोग का उपचार मात्र।

ऋषि पतंजलि योगशास्त्री उपरांत आयुर्वेदज्ञ भी थे ऐसा माना जाता है। संभव है कि शरीर स्वास्थ्य के लिए कुछ औषधों के साथ उन्होंने अप्राकृतिक शारीरिक परिश्रम के लिए, शरीर के विविध अंगों की कसरत के लिए कुछ आसन बताए, जिसके द्वारा शारीरिक स्थूलता और प्रमाद दूर हो। परंतु योगशास्त्र के अनुसार तो आसन की व्याख्या करते हुए “स्थिरसुखमासनम्” इतना ही कहा है – अर्थात् शरीर की ऐसी बैठक व्यवस्था कि साधक ध्यान में बैठने के लिए जिसमें लंबे अरसे तक बैठ सके और शरीर को असुख भी न हो। परंतु शरीर शांति उपरांत आराम का अनुभव करे।

ज्वर का एक अर्थ है ताप। मेरी दृष्टि से शारीरिक बीमारी से अगर ज्यादा खतरनाक है तो वह है आंतरिक रोग – मनोरोग। शरीर तो कभी कभार बुखार से ग्रस्त होता है। परंतु मनुष्य का मन और अंतर अनेक प्रकार के तापों से त्रस्त है। कोई लोभ से तपता है तो कोई मोह से। परंतु ये सब ऐसे रोग हैं जो गंभीर रूप से होने पर भी दिखाई नहीं देते। इन बीमारियों से पीड़ित व्यक्ति भी ऊपर ऊपर से स्वस्थ दिखता है। यह ज्यादा खतरनाक है। परंतु उन अदृष्ट रोगों का इलाज केवल ध्यान

है। सूक्ष्म रोग दिखाई नहीं देते हैं। और उनका इलाज भी सूक्ष्म होता है। ध्यान का कोई रंग, रूप, आकार, प्रकार नहीं है। वह एक सूक्ष्म प्रक्रिया है। परंतु सूक्ष्म तक नहीं पहुंच सकने वाला आदमी और सूक्ष्म रोगों से नहीं छूट सकने वाला या छूटने की आकांक्षा करने वाला आदमी शास्त्र के अर्थ को बहुत सूक्ष्म रूप से ग्रहण कर लेता है और दूसरों पर थोप देता है।

ध्यान शास्त्र कहता है कि ज्वर (ताप) के उपरांत इस ध्यान विधि से अनेक प्रकार के उपद्रव शांत होते हैं। मैं कहती हूँ केवल उस विधि से नहीं परंतु प्रत्येक ध्यानविधि में उपद्रवों से छुटकारा हो जाता है। मूल में उपद्रव नहीं है। एक समझदार आदमी के रूप में आपको जानना चाहिए कि उपद्रव पैदा कहाँ से होते हैं? उपद्रव करता कौन है? उपद्रव के मूल कहाँ हैं?

प्रिय साधको!

प्रत्येक उपद्रव मन की उपज है। उपद्रव करना मन का स्वभाव है। वह उपद्रव में ही जिन्दा रहता है। मन का उपद्रव से निरस हो जाना अर्थात् वितराग का आरंभ। जागृति का जन्म। ज्ञान का भोर ध्यान की प्रत्येक विधियाँ मन के उपद्रव से मुक्त होने के लिए खोजी गई हैं। और उस निरुपद्रव अवस्था को मन की मृत्यु अथवा अ-मनी अवस्था कहा गया है। वही मुक्ति की क्षण है। वही परम स्वतंत्रता है। और मैं कहती हूँ कि ऐसी स्वतंत्रता और मुक्ति प्राप्त करना आपके ही हाथों में है। यह कार्य कोई और नहीं कर पाएगा। क्योंकि आप मन के द्वारा बंधकर जो जो उपद्रव सहन करते हो और आपके द्वारा जो जो उपद्रव हो रहे हैं, उन सबके लिए आपकी अजागृति ही जिम्मेदार है। आपने सही ढंग से कभी प्रयास ही नहीं किया है मुक्त होने का। आपको उपद्रवों की आदत हो गई है। मनुष्य के पास जीवन बचा ही नहीं है, केवल उपद्रव ही बचा है।

लोग उन उपद्रवों की श्रृंखलाओं को जीवन का हिस्सा मानकर जी रहे हैं। बेड़ियों की आदत हो गई है, कुंजी हाथ में होते हुए भी जो कैद से छूटना नहीं चाहता हो ऐसे लोगों की मदद भगवान भी नहीं कर सकते। उपद्रव करने में रस मत लो। उपद्रव सहन भी मत करो, मुक्त हो जाओ उपद्रवों से। ध्यान में डूबकर इतने शांत हो जाओ कि उपद्रव और उपद्रवकर्ता शांत हो जाए। आप भागो मत, उपद्रव को पलायन करने दो। जिस तरह अशांत आदमी शांत वातावरण में नहीं रह सकता, ठीक वैसे ही अशांत मन ध्यानी चित्त के पास लंबे समय तक नहीं टिक पाएगा।

प्रिय साधको!

अनाहत नाद और कुछ नहीं, वह तो भीतर की शांति के विविध स्वर हैं। वह ध्यान के द्वारा सहज ही सुनाई देने लगते हैं। उसका श्रवण आपके कान नहीं परंतु चेतना करती है। जिसे संत पुरुष अनुभूति कहते हैं। यह शब्द ब्रह्म की अनुभूति शब्दों और उससे संलग्न इन्द्रियाँ और सामान्य शब्दों का अर्थघटन करने वाले मन-बुद्धि जैसे उपकरणों से पार जाकर ही हो सकती है।

प्रिय साधको!

शिव कहते हैं कि प्रतिदिन इस ध्यान विधि से दो घड़ी तक अर्थात् १६ मिनिट तक उतरने से अपनी इच्छा अनुसार मृत्यु को जीतकर अपनी इच्छा से इस लोक में विचरण करता है।

बात ज़रा समझने जैसी है; देह और इन्द्रियाँ मन से प्रेरित होकर उपद्रवों को बढ़ाते हैं। अगर आप करीब दो घंटे तक मन और इन्द्रियों को कोई विषय नहीं देंगे अथवा दो घंटे तक शांति का अभ्यास हो जाएगा तब धीरे धीरे मन और इन्द्रियों को भी शांति का अभ्यास होने लगेगा। मनुष्य ज्यादा से ज्यादा उर्जा वाणी और अन्य इन्द्रियों के द्वारा

व्यय करता रहता है। ऊर्जा का व्यय मृत्यु है – ऊर्जा को संचित करना है जीवन। इसके उपरांत शांति जीवन है, अशांति और ताप है मृत्यु। उपद्रवों से अशांति बढ़ती है, अशांति से चिंता और ताप बढ़ते हैं। मनुष्य उस अशांति को झेलता झेलता ही समय से पहले खत्म हो जाता है। शांति से प्रसन्नता बढ़ती है। प्रसन्नता जीवन है, आनन्द ही सच्चा जीवन है, बाकी तो संघर्ष है। सही जीवन की अनुभूति मनुष्य को शांति और आनंद की क्षणों में होती है। आपने कभी सुना कि किसीने आनंद से छुटकारा चाहा ऐसा कभी सुनेंगे भी नहीं। क्योंकि वही मनुष्य का मूल स्वभाव है। एकबार उसकी प्राप्ति हो जाने के बाद कोई भी समझदार आदमी उस माहोल से दूर जाना नहीं चाहेगा। और वह माहोल आपको ध्यान के द्वारा प्राप्त हो सकता है।

ध्यान विधि कहती है कि शब्दब्रह्म के ज्ञाता अपनी इच्छानुसार मृत्यु को जीतकर अपनी इच्छानुसार इस लोक में विचरण करते हैं। दोनों बात परस्पर निर्भर हैं।

एकबार आनंद की अनुभूति हो जाने के बाद कौन बदनसीब उससे दूर जाने की इच्छा करेगा? मैं कहती हूँ कि उपद्रव मृत्यु है, क्लेश मृत्यु है, अशांति मृत्यु है, काम-क्रोध-मोह-वासना मृत्यु हैं। शांति, मौन, आनंद, प्रेम और करुणा तथा सहज त्याग जीवन है। ध्यान में उतरकर एकबार आनंद के विश्व में प्रवेश हो गया फिर तो स्वाभाविक है कि ध्यान के द्वारा परिशुद्ध हुई चेतना ध्यान की ही इच्छा करेगा। ऐसी इच्छा वास्तव में मुक्ति की इच्छा है। इसे भारत के ऋषि मुमुक्षा कहते हैं। ध्यान एक साथ अनेक इच्छाओं को मिटा देता है और मुमुक्षा को जन्म देता है। ध्यान में उतरे हुए साधक की हर इच्छा मुमुक्षा की कक्षा की ही होगी। उसकी कोई इच्छा कैद या नर्क को खड़ा नहीं करेगी। न मृत्यु को निमंत्रण देने वाली होगी। ध्यानस्थ पुरुष की इच्छा मृत्यु के पार ले जाने

वाली ही होगी। उसकी इच्छा इच्छा की मृत्यु की ही होगी।

पुराण में एक प्यारी कथा है। प्रह्लाद को नृसिंह अवतार कहते हैं कि मैं प्रसन्न हूँ कोई वरदान मांगिए। तब प्रह्लाद कहता है कि मैं ऐसा वरदान प्राप्त करने की इच्छा करता हूँ कि मेरे भीतर कुछ भी मांगने की इच्छा के अंकुर ही न फूटें। ये परमेच्छा है, मुमुक्षा है। ये वास्तविक उपलब्धि है। यही निर्बाध समाधि का आरंभ है।

इच्छामृत्यु का अर्थ मैं इतना ही करती हूँ कि साधक जब शरीर के बंधन से मुक्त होने की इच्छा करे तब धीरे धीरे या शीघ्र स्वेच्छा से शरीर को छोड़ दे। जैसे जैन संत संथारा लेते हैं। अन्न जल छोड़ देते हैं। शरीर के प्रति आसक्ति नहीं है तब उसे छोड़ने के लिए अन्न जल छोड़ा जाएगा तो वह भूख प्यास पीड़ा नहीं देगी। क्योंकि फिर वह एक संकल्प हो गया। वह भूखमरा नहीं रहा परंतु एक देह-मुक्ति का साधन और साधना बन गया। अब सारी वासनाएं क्षीण हो गई हैं, शरीर और इन्द्रियों से कुछ पाने की लालसा मन में नहीं जग रही है। अब तो शरीर में रहना मतलब एक बड़े घर में रहने जैसा है। जिस घर में कोई रस नहीं और उसे मेइन्टेन करना पड़ता है। अथवा शरीर इतना क्षीण हो गया है कि वह खुद को संभाल नहीं पाता। तो बेहतर है कि वह छूट जाए। जिस चीज का मोह भी नहीं है और संभाली भी नहीं जाती है और खामखा बंधनरूप है तो उससे छुटकारा पा लेने में कोई पाप नहीं है, कुछ भी गलत नहीं है। शरीर में जब कोई रस नहीं रहता है तब योगियों के लिए वह शरीर एक वस्तु से ज्यादा कुछ भी नहीं है। उसने जितना साथ निभाया उसके द्वारा जितने आनंदित हुए, उसके द्वारा जितने जगत को उपयोगी हुए, जितनी साधना कर पाए.. उसे धन्यवाद देकर प्रेम से छोड़ दो।

कुछ संप्रदायों में आज भी समाधि लेने की परंपरा है। फिर तो

मृत देह को दफनाए जाने की क्रिया को भी समाधि कहते हैं। परंतु समाधि ले लेने का सही अर्थ था साधक का सिद्ध बन जाना। पूरा पूरा ध्यान को उपलब्ध हो जाना। ध्यान के द्वारा भीतर से इतने तृप्त और आनंदित हो जाना कि अब शरीर से लेकर पूरी दुनिया का बाहर की सारी चीजें निरर्थक हो जाना। इन्द्रियों से कुछ भी पाने की इच्छा समाप्त हो जाना। विरति की पराकाष्ठा, संतोष की परम सीमा। अब सारे बंधन निरर्थक। सहज समाधि की अवस्था। अब तो ध्यान भी निरर्थक। किनारा आ गया; नौका का क्या करें? संसार यात्रा की हमेशा हमेशा के लिए समाप्ति के क्षण का साक्षात्कार। अब शरीर रूपी नौका छूटने का कोई अफसोस नहीं, क्योंकि आवश्यकता ही नहीं। अब ना साधक रहा न साधना। सिद्धि में प्रवेश। आत्मतृप्ति का अनुभव। अब पता चल गया कि सब कुछ मेरे हाथों में ही था। बाहर कुछ नहीं था। इस बोध के घटने से बाहर की यात्रा भी सफल। अब फिर से उस यात्रा से गुजरने की कोई आवश्यकता नहीं। अब देह और इन्द्रियों का तो नहीं परंतु प्राणों का भी मोह नहीं अब सबकुछ छूटने दो, मिटने दो।

एक अवस्था को प्राप्त करके भारत के महान सिद्धपुरुष जीते जी तैयारी कर लेते थे लंबी विदा की। साधको को, शिष्यों को, भक्तों को बुलाकर बात देते थे अपना सत्य। समझने वाले समझ जाते थे, क्योंकि वे साधारण भक्त नहीं होते थे। वहाँ कोई कानून का बंधन नहीं था। वह वास्तव में एक इच्छामृत्यु था। वे ऐसे विरल संत थे कि मृत्यु की इच्छा कर लेते थे। और ऐसे महात्मा को मृत्यु मार नहीं सकती है। वे तो अमर हो जाते हैं। तिथि तय की जाती थी, समाधि का उत्सव मनाया जाता था और पृथ्वी खोदकर तैयार की हुई नियत जगह में ऐसे महात्मा आसन लगाकर, पूर्णनिरासक्त, निर्भय, प्रसन्न और मुक्त होकर बैठ जाते थे। समाधि स्थान में। भक्त जय जयकार के साथ समाधि स्थान को मिट्टी से

ढंक देते थे और सिद्धपुरुष की स्मृति में उस स्थान पर समाधि चुनवाते थे। बात समझने जैसी है – जीते जी भी समाधि अवस्था, जमीन खोदकर जो स्थान तैयार करवाया और फिर हमेशा के लिए पृथ्वी से विदा लेकर देह छोड़ने की विशेष प्रक्रिया और उत्सव से गुजरे वह भी समाधि और जो फिर उस स्थान पर महात्मा की स्मृति में जो पवित्र स्थान के रूप में चबूतरे जैसा चुनवाया गया वह भी समाधि। बड़ी प्यारी और प्रेरक बात है। आगे – पीछे – मध्य में सब समाधि, क्यों? क्योंकि व्यक्ति अदृश्य हो गया था। केवल ब्रह्म ही बचा था। ब्रह्म तो मरता नहीं, सूक्ष्म की तो मृत्यु है ही नहीं। जिसे हम मरना कहते हैं, वह तो शरीर की मृत्यु है परंतु वह मृत्यु तो आती है, चपेट में लेकर चली जाती है और देह पड़ा रहता है। उस मिट्टी को दफनाना या जलाना पड़ता है अथवा किसी भी उचित ढंग से उसका निकाल करना पड़ता है। व्यक्ति जागा नहीं था आसक्तियों से ग्रसित था और अचानक काल ने भी ग्रस लिया तब हम कहते हैं कि “मर गया।” ऐसे गाफ़िल लोग मृत्यु के द्वारा मर जाते हैं। परंतु जो चेत गया, वो जाग गया; उसे मृत्यु कैसे मार पाएगी! वे तो मरने के पहले मर गए। उनके पास से मृत्यु आकर कुछ छीन ले ऐसा उन्होंने कुछ रहने ही नहीं दिया। उसे कौन लूट सकता है जो सबकुछ पहले से ही लुटाकर बैठा है? ऐसा मनुष्य तो अभय हो जाता है। ऐसा सिद्ध मृत्यु को आने का मौका ही नहीं देता। वे तो स्वयं में (समाधि में) जाकर अपनी मिट्टी सहज ही मिट्टी को अर्पण कर देते हैं। ऐसे लोग मृत्यु की दुर्घटना घटने ही नहीं देते हैं। इतने सचेत होते हैं कि लोगों को जिसमें मृत्यु दिखाई देती है, वह उनके लिए उत्सव बन जाए। मृत्यु आकर जीवन को छीन ले उससे पहले जीवन का आध्यात्मिक परित्याग। आध्यात्मिक अंत; जिसे मृत्यु नहीं परंतु समाधि कहते हैं।

शिव ऐसे जीवन परित्याग के लिए मृत्युविजय शब्द प्रयोग

करते हैं। ऐसे महापुरुष अपनी इच्छानुसार पृथ्वी पर विचरण करके अपनी इच्छानुसार ही मृत्युविजय प्राप्त करते हैं। शिवपुराण की उमा संहिता के कालवचन वर्णन नाम का छब्बीसवां अध्याय अद्भुत है।

प्रिय साधको!

हमारे भीतर जो दस प्रकार के अंतर्नाद ध्वनित होते रहते हैं उसके ज्ञान को शिव शब्दब्रह्मज्ञान कहते हैं। जो साधक रोज कम से कम डेढ़ घंटे तक इस विधि को बनाई गई प्रक्रिया के अनुसार साधना करते हैं वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होकर सर्वसिद्धियाँ प्राप्त कर लेते हैं।

प्रिया साधको!

यह निवेदन इसलिए नहीं है कि आप फल के लालची बनें परंतु इसलिए है कि साधना की परिपक्वता के बाद के परिणाम की जानकारी से आप अवगत होकर, सजग होकर उसके भी पार चले जाओ।

एक दूसरी बात भी याद रहे! साधारण मनुष्य का मन चमत्कार की बातों से जल्दी आकर्षित हो जाता है। शास्त्र का सही अर्थ या शब्दों का सूक्ष्म अर्थ न समझने वाला आदमी उसे अतिशयोक्ति मान बैठता है। परंतु आध्यात्मिक चित्त केवल अनुभव की कसौटी पर बात को सिद्ध करके उसके रहस्य को जान लेता है। वह हर चीज को अस्तित्वगत रूप से आत्मसात करने का प्रयास करता है।

धारणा कहती है कि रोज डेढ़ घंटे तक इस ध्यानविधि में से गुजरने से साधक सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन जाता है और सब प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त कर लेता है। इस कथन को पहले थोड़ा समझ लेना। यहाँ बिलकुल सीधीसादी सपाट आध्यात्मिक अभिव्यक्ति है परंतु जैसे मैंने पहले कहा कि अ-आध्यात्मिक मनुष्य सही बात का कुछ गलत अर्थ निकाल लेता है। “सर्वज्ञ” का शब्दार्थ है सबकुछ जानने वाला। परंतु

वास्तव में यही जानना सही जानना है कि जो जानकर आपको जानने की सभी आकांक्षाओं से मुक्त कर दे। और ऐसा तभी संभव है कि जब साधक दुन्यवी चीजों को जानने की आकांक्षाओं से मुक्त होकर अंतर्जगत के सत्त्यों को जानना प्रारंभ कर दे।

आप सभी शास्त्र, इतिहास, पुराण या किसी भी आध्यात्मिक मंत्र पढ़ लेना। दुनियादारी की चीजों को जानने वालों को सर्वज्ञ नहीं कहा है, फिर वह भले कितना भी पढ़ा हो, किसी भी विश्वविद्यालय की उपाधि प्राप्त की है या संसार में कितना भी कुशल है परंतु केवल आत्मनिष्ठ एवं ब्रह्मभानी पुरुषों के लिए अथवा भगवान के लिए सर्वज्ञ और सर्वदर्शी शब्द प्रयोग किया है। कोई जब भगवाद्ता को उपलब्ध हो जाता है। तब उसमें और भगवान में कोई भेद नहीं रहता।

आपने “यत्र योगेश्वर कृष्णो यत्र पार्थ धनुर्धरो” गीता का यह श्लोक सुना होगा। यहां कृष्ण और अर्जुन की समान महिमा दिखाई गई है। ऐसे तो अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। पुराण का नर-नारायण अवतार इस बात का समर्थन करता है। पृथ्वी का जब भी किसी आत्मा ने अध्यात्म की चरम सीमाओं को छू लिया है; उसे समाज ने भगवान के रूप में स्वीकार कर लिया है। फिर वह राम, कृष्ण, बुद्ध या महावीर कोई भी क्यों न हो!

प्रिय साधको!

जब किसी खोजी की समग्र ऊर्जा पार्थिव आकर्षणों से ऊपर उठकर अंतर्यात्रा करती करती ज्ञान के चरम बिंदु तक पहुंचकर रूपांतरित हो जाती है तब वह मनुष्य असाधारण बन जाता है। तब वह अवतार, तीर्थंकर या भगवान बन जाते हैं। क्यों? क्योंकि उसका निरर्थक देखना, सुनना, बोलना और करना बंद हो गया, ऊर्जा व्यय बंद हो गया। एक बात खास याद रहे, निरर्थक निरर्थक के निकट ले जाता है और सार्थक

सार्थक के निकट। ऊर्जा प्राण है; जब साधक उसे निरर्थक कार्यों में नहीं गवाँता तब उसका महाप्राण से संपर्क होने लगता है। वह संपर्क अंतर्यात्रा का परिणाम है। अंतर्मुखता का परिणाम है। प्राण जब अपने मूल स्रोत के संपर्क में आते हैं तब वह विशेष रूप से प्रबल हो जाते हैं। ऐसा होना स्वाभाविक है। जैसे कि बूंद और सागर के स्वभाव में भले फर्क न हो परंतु क्षमता में बहुत फर्क है। ऐसा ही प्राण और महाप्राण का संबंध है। जब आपकी ऊर्जा संचित होकर विस्तृत होने लगती है तब अचानक अतिचेतस शक्तियाँ जागृत हो उठती हैं।

मनुष्य की एक ही तकलीफ़ है। कमजोर मनुष्य बाहरी आकर्षणों से विचलित होकर बार बार अपने परम केन्द्र से संपर्क तोड़ देता है परंतु सच्चा खोजी उस संपर्क को टुटने नहीं देता और अपनी अतिमानस शक्तियों का अनुभव करने लगता है। मन और मति की क्षमता के बाहर की बातों को वह सहजता से जान लेता है, और स्थूल चक्षुओं के पार के दृश्यों को देख लेता है। ऐसे देखने को ज्ञानीपुरुष अंतरदर्शन कहते हैं।

मैं कहती हूँ कि विश्व में अगर कुछ जानने योग्य है तो वह सत्य है। और कुछ देखने योग्य है तो वह है, भीतर का विश्व। साधक जब निरर्थक जानने और देखने से मुक्त हो जाता है तब वह सर्वज्ञ बन जाता है। मेरे अनुसार सत्य को जानना सबकुछ जान लेने से भी श्रेष्ठ है। सत्य को जानने वाला ही सर्वज्ञ है। केवल अंतरदर्शन के द्वारा ही कोई सिद्ध बन सकता है। इसके सिवाय कोई उपाय नहीं है। दुन्यवी सिद्धियों को मैं सिद्धि नहीं कहती हूँ – वह तो एक चोर, भ्रष्टाचारी और व्यभिचारी भी प्राप्त कर लेता है। परंतु अंतरदर्शन के द्वारा पाया हुआ सत्य ही परमसिद्धि है। ऐसी सिद्धि ही प्रत्येक रिद्धि-सिद्धि के आकर्षणों से मुक्त कर सकती है। एक बार जिसने अपने भीतर उतर कर उस करुणासिंधु को जान लिया तो फिर वह सबमें विराजित परमात्मा को जान लेगा। वही सच्ची

सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता है। बाकी दुनिया में प्रतिपल घटती हुई बेकार और घृणास्पद एवं निरर्थक बातों को अगर किसीने जान भी लिया तो इससे क्या? अंतरदर्शन ही सही दर्शन है और सत्यज्ञान ही सबकुछ जाने लेने के बराबर है।

एक संत के पास एक शिष्य आया उसने कहा मुझे सब शास्त्र और पुराणों के बारे में जानना है। संत ने कहा केवल वेद को जान ले। शिष्य ने कहा – मैं चारों वेदों को जान लूं तो? तब संत ने कहा, केवल वेदांत को जान ले। शिष्य ने कहा कि तो १०८ उपनिषदों को पढ़ लूंगा। तब संत ने कहा, केवल गीता को पढ़ ले। शिष्य ने कहा कि ठीक है मैं उसे पढ़ लूंगा। तब संत ने कहा कि इतना सब देखने से अच्छा तू खुद को देख ले। फिर आगे क्या हुआ? पता नहीं। शिष्य समझा होगा कि नहीं, उसका भी पता नहीं परंतु मैं कहती हूँ कि आत्मदर्शन से साधक सर्वदर्शी और सर्वज्ञ बन जाता है। फिर कुछ देखने को और जानने को बाकी नहीं बचता।

प्रिय साधको!

इसलिए तल्लीन होकर जो अंतरदर्शन और सूक्ष्म श्रवण में लीन होता है; ऐसे साधक को यह अनाहत नाद सुनाई देने लगता है। शिव कहते हैं कि इस शब्दब्रह्म को सुनते ही योगी संसार के बंधनों से पार हा जाता है।

संसार के बंधनों से पार हो जाने का अर्थ यह नहीं है कि वह घर-बार, बीबी-बच्चे छोड़ देगा। परंतु इसका अर्थ सिर्फ इतना ही है कि संसार उसे बांध नहीं सकता। वह संसार में रहेगा परंतु संसार उसमें नहीं रह पाएगा। संसार बंधनरूप नहीं लगकर स्वेच्छिक शिक्षण केन्द्र या रंगमंच बन जाएगा।

संपूर्ण दर्शन को शिव शब्दब्रह्म विधि क्रम कहते हैं और कहते हैं

कि हे उमा! जैसे धान्य को चाहने वाला मुआल को छोड़ देता है वैसे ही योगी पुरुष को इस शब्दब्रह्म की अनुभूति के लिए बची हुई वासनाओं को छोड़ देना चाहिए।

शिव कहते हैं कि इस शब्दब्रह्म की प्राप्ति के बाद जो पुरुष अन्य पदार्थों की इच्छा करता है वह मुट्ठी से आकाश पर प्राहार करता है और भूख प्यास को चाहता है।

प्रिय साधको!

यहाँ आपके मन में प्रश्न उठेगा कि क्या अंतर्नाद सुनाई देने के बाद फिर पदार्थों की चाह संभव है? हाँ, यहाँ शिव योग साधकों को और योगियों को चेताते हैं। यह चेताने की परंपरा का प्रारंभ शिव से हुआ है। जिसका आजतक योग और तंत्र के हर संप्रदाय में प्रत्येक गुरु के द्वारा निर्वाह हुआ है। खास करके नाथ, सिद्ध, बौद्ध और ज्ञेन में यह चेताने की घटना ही प्रमुख है। यही महत्वपूर्ण है। शिव ने विष्णु और ब्रह्मा को चेताया था, शिव को शक्ति ने चेताया था, कार्तिक ने वामदेव को चेताया था, गोरख ने मछंदर नाथ को चेताया था, बुद्ध ने अनेको को चेताया था, क्यों? क्योंकि वही ज्ञानी की सही भूमिका थी। साधक साधना तो करता है परंतु गुरु उसे विविध रूप से जगाते रहते हैं ताकि साधक साधना भ्रष्ट ना हो जाए।

पुराण में योगी भरत की एक कथा आती है। दस हजार साल तक उसने योग साधना की थी। परंतु केवल मृगशावक में मोह हो जाने से वे योगभ्रष्ट होकर मृगी के गर्भ से मृग रूप में उन्हें जन्म लेना पड़ा। साधक या साधु जब किसी भी कारण से योगभ्रष्ट हो जाता है तब नासमझ दुनिया उसे अलग ढंग से देखती है। परंतु मैं कहती हूँ कि अगर ज्ञानदृष्टि से देखा जाए तो प्रतिष्ठा का नुकसान बहुत बड़ा नुकसान नहीं है। योगी तो पद-प्रतिष्ठा से पार के विश्व में जीते हैं, निंदा-स्तुति का कोई

असर या महत्व नहीं है। दुनिया का मापदंड कोई आखरी मापदंड नहीं है। जो दुनिया नहीं कर सकती है वह आप कर लेते हैं तो दुनिया वाह वाह करती है और फिर से आप दुनिया के स्तर पर आ जाते हैं तो दुनिया निंदा करती है। दुनिया जो करने में असमर्थ है ऐसा कुछ भी आप कर लेते हैं तो दुनियां उसे पराक्रम, सफलता और महानता मानती है। आप वास्तव में महान हो कि नहीं? इसे समझने की क्षमता साधारण मनुष्य में नहीं होती। महापुरुषों की मानवसहज चेष्टाएं, आवश्यकताएं और गलतियों को दुनिया हीनदृष्टि से देखती है। दुनिया के पास इतनी समझ नहीं है कि – जो उड़ने की कोशिश कर रहा है वही गिर सकता है। जमीन पर रेंगते हुए कीड़े कैसे गिरेंगे? क्योंकि वे तो गिरे हुए ही हैं, वही उसकी नियति है।

खैर! मैं कहूंगी कि उर्ध्विकरण होने के बाद अधःपतन की घटना घटती है तो वह पाप नहीं है, परंतु योगी के लिए हानिकारता इसलिए है कि अमूल्य जीवन का समय व्यर्थ ही व्यय हो जाता है। व्यक्ति, वस्तु अथवा पदार्थों के आकर्षणों में और इसे पाने में और फिर होश संभालने तक साधक का मूल्यवान समय और क्षमता हाथ में से निकल जाते हैं। आदमी जीतना ऊपर से गिरेगा उतनी चोट गहरी होगी। ऐसा भी हो कि फिर कभी उठ न पाए। शाश्वत को छोड़कर नाशवंत पदार्थों की चाह करने की गलती कभी कभी लंबा पश्चाताप देकर जाती है। और हाथ में से समय निकल जाने के बाद पश्चाताप भी निरर्थक हो जाता है। आत्मोन्नति के स्थान अजागृतिवश अवनति की ओर चले जाना साधक को अपराधभाव से भर देता है। यह अपराधभाव से पीड़ित होना, किसीको अपराधभाव का अहसास कराना ही पाप बन जाता है। कृत्य तो छोटा होता है, असर लंबे समय तक चित्त को छोड़ती नहीं है। फिर साधना में फिर से स्थिर होना कठिन बन जाता है। इसलिए शिव चेताते हैं कि एक बार शब्दब्रह्म

का अर्थात् अंतर्नाद का अनुभव हो जाने के बाद जो अन्य पदार्थों की आकांक्षा करता है वह मुट्टी से आकाश में प्रहार करता है।

शिव ने एक अद्भुत प्रतीक का उपयोग किया। मुट्टी से आकाश में प्रहार करने का ज़रा अर्थ समझ लेना। मुट्टी से प्रहार करके कोई आकाश को नहीं जीत सकता और ना ही उसे नुकसान पहुंचा सकता है। ऐसा करने वाला थक जाता है। मैं कहती हूँ कि तृष्णाएं आकाश जैसी अपार हैं। आकाश में प्रहार करना मतलब उसे जीत लेने की चेष्टा करना। अपने वश में कर लेने का प्रयास करना। मनुष्य तृष्णाओं को, आशाओं को, इच्छाओं को पूर्णरूप से पूरी कर लेना चाहता है। उसे भुगत लेना चाहता है। भोग का विजयोत्सव मनाना चाहता है। परंतु वह निरर्थक है, ऐसा कभी हो नहीं सकता।

राजा भृत्यहरि एक पूर्ण अनुभवसिद्ध योगी था। संसार और सन्यास दोनों को उसने पूर्ण रूप से जाना था। और अनुभव के बाद कहा कि मनुष्य चीजों को नहीं भुगतता है परंतु मनुष्य खुद संसारिक पदार्थों के द्वारा भुगता जा रहा है। और वैराग्य की गहन अनुभूति के बाद ही कहा है कि “वैराग्यमेवा भयम्”। वैराग्य के बिना हर स्थान पर भय है। केवल वैराग्य ही निर्भयता है। वैराग्य का अर्थ है वासनामुक्ति की अवस्था।

संसार सबको मात देता आया है। संसार का अर्थ है इच्छाओं का व्याप, पदार्थों की चाह, सब कुछ भुगत लेने की लालसा। परंतु इच्छाएं आकाश की तरह अनंत हैं और आदमी वहाँ बहुत छोटा पड़ रहा है। अपनी इच्छाओं से कोई कभी भी पूर्ण तरह तृप्ति नहीं प्राप्त कर सका। बछड़ा गाय के स्तन में माथा मारकर थोड़ा ज्यादा दूध पी सकता है। बच्चा माँ के स्तन को पकड़कर थोड़ा ज्यादा तृप्त हो सकता है परंतु आकाश में मुट्टी मारकर कोई कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि वास्तव में वहाँ कुछ है ही नहीं। इसी तरह संसार में कुछ भी वास्तविक

है ही नहीं इसलिए तो संसार को असार कहा है।

जल को मथकर कोई मक्खन नहीं निकाल सकता और रेत को पीस कर कोई तेल नहीं निकाल सकता इसी तरह पदार्थों के पीछे भागकर मनुष्य कभी शाश्वत सुख को प्राप्त नहीं कर सकता। क्षणिक सुख हाथ से निकल जाता है और दुःख देता जाता है।

शिव कहते हैं कि एक बार शब्दब्रह्म को अर्थात् अंतर्नाद को सुन लेने के बाद भी जो सांसारिक पदार्थों की कामना करता है वह मानों कि भूख और प्यास की भिक्षा मांग रहा है। क्योंकि मानव मन पदार्थों से कभी भी भरता नहीं है। सांसारिक पदार्थ उन पदार्थों को फिर फिर के पाने की भूख बढ़ाते ही रहते हैं। संसार सुख की प्यास मृगमरीचिका की भांति आपकी प्यास को बढ़ाती ही जाती है, बढ़ाती ही जाती है। रोटी की भूख जब शांत होती है तो कुछ घंटे तक तृप्ति रहती है परंतु मान की भूख कभी भी शांत नहीं होती।

प्रिय साधको!

एक दूसरी बात भी याद रहे। पदार्थों का विरोध नहीं करना है परंतु उसकी आकांक्षा भी नहीं करनी है। कभी कभी ऐसा होता है कि मनुष्य शास्त्र अथवा ज्ञानी पुरुष की वाणी का अर्थघटन अपनी समझ के अनुसार कर लेता है। ज्ञानवाणी को समझना इतना आसान नहीं होता है। संभव है कि आपकी समझ सीमित या गलत हो। ऐसी स्थिति में अर्थ का अनर्थ हो जाता है। तथाकथित साधु-संतों ने और तथाकथित गुरुओं ने शास्त्रों के अर्थों पर बहुत अत्याचार किया है। शांत होकर शब्द में प्रवेश करके उसमें छिपे हुए भाव को समझने की क्षमता ही कहां है उन लोगों में! ऐसे नासमझ लोग शास्त्र और धर्म के नाम पर लोगों पर दमन थोपते रहते हैं। शिव पदार्थ का विरोध नहीं कर रहे हैं। वे तो केवल सत्य बता रहे हैं कि पदार्थों से मन कभी भी भरता नहीं है। जीवन में सुविधा

के लिए चीजों का उपयोग करना कोई पाप नहीं है। मनुष्य पदार्थों का उपयोग या उपभोग करे इसमें कुछ भी गलत नहीं है परंतु चीजों का गुलाम बन जाए यह गलत है। चीजों के पीछे भागना गलत है। केवल पदार्थों की आदत और व्यसन मनुष्य को कंगाल और भिखारी बना देता है। उसकी अपनी आध्यात्मिक क्षमता का विस्मरण करा देता है और फिर वह इच्छाओं के पीछे भागने वाला एक सजीव पुतला मात्र बन जाता है। शिव चाहते हैं कि आप अपनी मूलशक्ति को जानो, समझो शांति और आनंद को प्राप्त करो। ऐसा आनंद और शांति जो पदार्थों पर, वस्तुओं पर, व्यक्तियों पर निर्भर न हो परंतु स्वयं पर निर्भर हो।

एक संत को एक भक्त एक बड़े डिपार्टमेंटल स्टोर में लेकर गए। संत ने स्टोर को देखकर कहा कि इसमें ज्यादातर चीजें ऐसी ही कि जिसकी मुझे जीवन में कभी भी आवश्यकता नहीं है। ये आत्मसंतोष की निशानी है।

अंतर्नाद आत्मशक्ति के स्पंदन की सीधी और सूक्ष्म अनुभूति है। शिव कहते हैं कि यही नाद सुखद, परब्रह्म स्वरूप, जानने योग्य, मुक्ति का कारण, अविनाशी और सभी उपाधियों से मुक्त हैं। जो इसे जान लेता है वह सुखी रहता है।

मैं कहती हूँ कि यह नाद सुखद इसलिए है कि वह आपके भीतर दिव्य, चैतन्य और सर्वशक्तिमान की सूक्ष्म अनुभूति कराता है। जो अनुभव आपको सुख देता है। जब जब यह नाद सुनाई देता है तब तब आप उस जीवनरूप और जीवनदायक के अनुभव की हाजरी का अहसास करते हो; तब तब आपकी बाहर की खोज बंद हो जाती है।

बाहर की खोज क्यों चलती है? सुख के लिए, परंतु परम सुख का अनुभव जब भीतर ही हो जाएगा तो दौड़ स्वतः ही रुक जाएगी। बाहर का सुख भ्रामक और नाशवंत है – आंतरिक सुख शाश्वत है।

शिव उस नाद को मुक्ति का कारण क्यों कहते हैं? क्योंकि वह शब्दब्रह्म सुनाई देने के बाद मनुष्य का आत्मसत्ता में प्रवेश हो जाता है। स्वयं में विकसित शांत, अदृश्य, सुखधाम और परब्रह्म के अंश की मौजूदगी का अनुभव करने के बाद साधक की सांसारिक लीलाएं छूटने लगती हैं। वह मन की वासनाओं से मुक्त होता जाता है। इसलिए उसे मुक्ति का कारण कहा।

परंतु मैं कह रही हूँ कि शिव कहते हैं या मैं कहती हूँ इसलिए मत मान लो। मानी हुई बातों का अध्यात्म जगत में कोई महत्व नहीं है। मैं कहती हूँ कि उतरो विधि में और स्वयं के द्वारा स्वयं को जान कर स्वयं को मुक्त कर लो। जब तक आप विधि में उतरेंगे नहीं तब तक मेरा सबकुछ कहना निरर्थक है।

हाँ! यह सब पढ़कर आप खुश होंगे, मेरी सराहना कर देंगे कि बहुत अच्छा काम किया है। ज्यादा से ज्यादा इतना कहेंगे कि आज तक किसीने जिन विधियों को नहीं छूआ, ऐसी विधियों को बहुत अच्छे ढंग से समझाने का पुरुषार्थ किया है। बहुत अच्छा चिंतन दिया है परंतु ऐसी तारीफ से आपका कल्याण नहीं हो सकता। हर आदमी ज्ञान ग्रंथों को पढ़कर, अभिप्राय देकर रह जाएगा और कहेगा कि लोगों के लिए बहुत अच्छा है। तो इससे कोई आध्यात्मिक क्रांति नहीं घटेगी। आपके अभिप्रायों से मेरा कुछ लेना देना नहीं है। मैं इतना ही कहूंगी कि मेरा अनुभव आपका अनुभव बने। शिव की बताई हुई विधि आपका कल्याण मार्ग बन जाए। मोक्षमार्ग बन जाए और आपकी ऐसी यात्रा का प्रारंभ हो कि वहां केवल उन्नति की ही संभावना हो। अवनति के लिए कोई अवकाश न बचे। आपकी समझ इस तरह से विकसित हो कि आपके द्वारा बंधन खड़े करना असंभव बन जाए।

शिव कहते हैं कि जो काल पाश में फंसकर मृत्यु के बंधन में

फंस जाते हैं ऐसे दुर्बुद्धि, पापी लोग शब्दब्रह्म नहीं जानते।

प्रिय साधको!

शिव की वाणी समझने जैसी है। शिव कहते हैं कि कालपाश से मोहित होकर जो मृत्युपाश के वश हो जाते हैं और इस शब्दब्रह्म अर्थात् अनाहतनाद को या अंतर्नाद को नहीं जानता, ऐसा कुबुद्धिवाला पापी है।

कालपाश से मोहित होने का अर्थ है जिंदगी में नए नए रंग रूप में आकर्षण की क्षण आती रहती हैं। एक समय पर एक चीज मन को लुभाती है तो दूसरी क्षण पर दूसरी चीज। एक दिन एक स्त्री के प्रति मोह बढ़ता है तो दूसरे दिन दूसरी स्त्री के प्रति। आज एक आदमी पसंद आता है कभी दूसरा। ऐसे बदलते समय के प्रवाह में साधारण मनुष्य खिंचा जाता रहता है। केवल आकर्षण ही नहीं, परंतु सुख दुःख की क्षणों में वह पिसता रहता है। साक्षी भाव के अभाव में वह समय के प्रावाह के संग हो लेता है। वह दृष्टा बनकर बदलते हुए प्रवाह से अलिप्त नहीं रह सकता। परिणाम स्वरूप उसके पास जो समय था वह बर्बाद हो जाता है। जीवन तो अज्ञान में ही बीत जाता है और शांति, संतोष, तृप्ति का कोई पता नहीं है। जीवन के बारे में इतना सबकुछ जान लिया की जीवन को जानना चूक गए। अचानक मृत्यु आ गई और मृत्युपाश के वश होकर जाना पड़ा। कोई जागृति नहीं थी, कोई साधना नहीं थी, कोई तैयारी नहीं थी। अभी तो इच्छाजाल में फंसे थे। निकलने का रास्ता भी मालूम नहीं था। वासनाओं के पर्वत खड़े करके रखे थे। अभी तो बहुत कुछ करना था, पाना था, भुगतना था, अपने वश में करना था। परंतु समय का शिकार बनते बनते हाथों में से समय ही निकल गया। क्या सही बुद्धिमान के साथ ऐसा हो सकता है? कुबुद्धिवाला आदमी ही ऐसे भटक सकता है। मृत्युपाश के वश होना अर्थात् पुर्जन्म के लिए विवश हो जाना। और मृत्युविजयी बनना अर्थात् जन्म मृत्यु के पार चले

जाना। अबोध अवस्था में ही बार बार मरना और बार बार पैदा होना ये दुर्बुद्धि का परिणाम है। कुछ लोग तो एक ही ज़िंदगी में कई बार मरते हैं और कई बार पैदा हो जाते हैं। आशाओं का टूटना और फिर स्वस्थ होकर खड़ा हो जाना अच्छा है परंतु बार बार नई नई आशाएं, इच्छाएं और सपनों को बुनकर टूटते रहना, बिखरते रहना, केवल अपने अज्ञान के कारण पीड़ित होते रहने ये शिव के अनुसार कुबुद्धि है। बुद्धिमान तो एक बार की चोट में ही जाग जाता है। शिव बार बार मरना और पैदा होने की घटना को पाप कहते हैं। ऐसा क्यों? ज़रा समझने की कोशिश करना। पंडित लोग हर बात में शास्त्र का प्रमाण देकर अपने मत को सिद्ध करते हैं। उनके पास आत्मप्रज्ञा जैसा कुछ भी नहीं होता, उसका शस्त्र होता है केवल पांडित्य से भरा मस्तिष्क, परंतु एक जागा हुआ मनुष्य एक पंडित से ज्यादा ऊपर और सुलझा हुआ होता है। उसे किसी भी बात को सिद्ध करने के लिए शास्त्र पर आधार नहीं रखना पड़ता है। उसके पास आत्मानुभूति होती है। और वह अपनी सत्यानुभव से संतुष्ट होता है। उसे न किसी से वाद-विवाद की आवश्यकता होती है न अपनी बात को सिद्ध करने का आग्रह- क्योंकि सत्य सबसे प्रबल है। सत्य का अनुभव करने वाला जो कहता है वह शास्त्र बन जाता है।

शिव के पास आत्मानुभूति है। वे जो कुछ भी कह रहे हैं वह शास्त्र के आधार पर नहीं कह रहे हैं, वे जो कहते हैं वह शास्त्र बन जाता है।

पाप और पुण्य की जहाँ बात आती है वहाँ लोग थोथे छानने लगते हैं कि पाप और पुण्य के बारे में शास्त्र क्या कहते हैं? कोई वेदव्यास से उधार प्रमाण लेकर कहते हैं कि “परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीडनम्” – परंतु यह वेदव्यास की अनुभूति है। वेदव्यास परपीड़न को पाप समझते हैं। मैं कहती हूँ कि आत्मपीड़न भी पाप है।

वेदव्यास उस ऊँचाई तक पहुंच गए थे कि वे आत्मपीड़न की चेष्टा कभी भी नहीं कर सकते थे। और दुनिया को उपदेश देने के लिए संदर्भवशात कह दिया कि परपीड़न पाप है। परंतु शिव की भाषा ज्यादा सूक्ष्म है – वेदव्यास ने आम जनता को ध्यान में रखकर देशना की है। शिव ने अध्यात्म की चरम सीमा तक पहुंचने की क्षमता वाले मुमुक्षुओं को प्रबोधा है।

बार बार पैदा होने और मरने की घटना मनुष्य को कोई पीड़ा नहीं देती है। आत्मजागृति के अभाव से वासनाओं का विस्तार बढ़ता रहता है और मन की वासनाएं मनुष्य को भटका भटकाकर थका देती है। तोड़ देती है, खत्म कर देती है। यह एक ऐसा आत्मपीड़न है कि जो मनुष्य को प्यारा लगता है। कोई प्रोग्रेस के नाम से आत्मपीड़न कर रहा है तो कोई प्रतिष्ठा के नाम से, कोई परिवार को सुखी करने के भ्रम में तो कोई भोग भुगत लेने की कामना से। परंतु इस सब दौड़धूप में आखिर तो मनुष्य घाटे में ही जाता है। जागृति के बिना किया हुआ सब कुछ व्यर्थ जाता है और मनुष्य जीवन चूक जाता है। आत्मपीड़न करते करते मर जाता है, यह पाप नहीं महापाप है। और ऐसा करना ये दुर्बुद्धि है।

प्रिय साधको!

इस विधि में शिव एक विशेष चेतावनी देते हैं और कहते हैं कि – इस विधि में निद्रा और आलस्य महान शत्रु हैं। बात जरा समझने जैसी है। मैंने इस विधि में दो-तीन बार कहा है कि शिव की वाणी को एक विशेष अर्थ में समझनी होती है। निद्रा के दो अर्थ हैं – एक तो नींद और दूसरा अजागृति। मैं कहूँगी कि निद्रा आवश्यक है, अजागृति शत्रु है।

मनुष्य आवश्यकता को, जीवन की अनिवार्य जरूरतों को काट नहीं सकता; अगर वह ऐसा करेगा तो खुद खत्म हो जाएगा। हाँ!

इच्छाओं को काटा जा सकता है।

मैं कहूँगी कि यहां निद्रा को अजागृति के अर्थ में लेना चाहिए। दूसरे अर्थ में तो निद्रा शत्रु नहीं है परंतु आवश्यकता से ज्यादा निद्रा शत्रु बन सकती है।

सिद्ध लोग कहते हैं कि आलस, चर्चा, निद्रा और मैथुन उसे बढ़ा भी सकते हैं और चाहें तो कम भी कर सकते हैं। उन्हें छोड़ सकते हैं – ऐसा नहीं कहा है। परंतु कम कर सकते हैं – ऐसा कहा है। यह भी अनुभव का विषय है। अभ्यास का विषय है। आलस और निद्रा का गहरा संबंध है। अल्पाहारी की निद्रा कम हो जाती है। अतिआहारी की निद्रा बढ़ जाती है। इसलिए सभी धर्म सात्विक और सम्यक् आहार पर जोर देते हैं। हिन्दू, जैन, मुस्लिम सब उपवास में मानते हैं। मूल में आहार के संतुलन के लिए ही सब नियम हैं। कुछ नासमझ लोग उपवास को भोजन और स्वाद के चेन्ज का मौका समझते हैं। ऐसे लोगों को उपवास के द्वारा कोई फायदा नहीं होता। हमारे धर्मों में कूट कूट कर विज्ञान भरा है। आधुनिक विज्ञान पैदा नहीं हुआ तबसे शास्त्रों ने वैज्ञानिक बातें धर्म की भाषा में प्रगट की हैं। जरूरी है उसे समझना, समझाना, अनुसरण करना। अति आहार लेने वाले को आहार पचाने के लिए विशेष ऊर्जा चाहिए। आपने देखा होगा; बहुत खाने वाले खाने के बाद तुरंत खर्राटे लेने लगते हैं – क्यों? क्योंकि भोज्य पदार्थ इतना भारी है कि पूरे शरीर की ऊर्जा पेट की ओर मुड़ गई, पेट को आहार पचाने के लिए ज्यादा ऊर्जा की जरूरत पड़ी। जब मस्तिष्क की ओर मुड़ती हुई ऊर्जा भी पेट की तरफ मुड़ गयी, जड़ता बढ़ने लगी; तो मस्तिष्क पूरी ऊर्जा न मिलने से सोने लगा... नींद आ गई। तीन-चार घंटे बाद फिर से जागे और धीरे धीरे काम शुरू किया। फिर भी पूछा तो ऐसा कह दिया कि पेट पचा नहीं पाया। वह रोग बनकर सूक्ष्म रूप से पनपने लगता है और

रोगप्रतिकारक शक्ति कम पड़ते ही हमला कर देता है।

यहाँ शिव जिस निद्रा को शत्रु कह रहे हैं वह निद्रा अतिआहार, अतिकाम और अतिश्रम से पैदा हुई गैरकानूनी निद्रा की बात है। परंतु गलति से भी कोई साधक ऐसा अर्थ न करे कि निद्रा का बिलकुल त्याग कर देना है। साधना में समग्रता पाने के पहले ऐसा कर देंगे तो स्वास्थ्य खराब हो जाएगा – निद्रा को त्यागना नहीं है। आपको केवल साधना में तल्लीन होना है। वह आनंद पेट और मन की मांगों को कम कर देगा। विस्मरण हो जाएगा आवश्यकताओं का। भूख को मारना और भूख पर विजय प्राप्त करना उन दोनों में फर्क है। निद्रा को त्यागना, निद्रा से दूर जाना और अनिद्रा ये तीनों में फर्क है। यह फर्क नपुंसक और अहिंसक जैसा है।

आपको इतना ही याद रखना है कि ज्यादा निद्रा नहीं लेनी है। और यह भी याद रखना है कि निद्रा का आधार आहार पर है। निद्रा ऊर्जा देती भी है और ऊर्जा खाती भी है। आपने देखा होगा – बच्चा भूखा है, कुछ खाने को नहीं मिल रहा है तो रो रोकर थककर सो जाता है। भूखे लोग पानी पीकर भी घसघसाट सो जाते हैं। परंतु वह सोना तंदुरस्त सोना नहीं है। वहाँ ऊर्जा के बिना मस्तिष्क थक कर सो जाता है। और अति आहार के बाद पेट भोजन पचाने के लिए ऊर्जा खींच लेता है, तब भी मस्तिष्क को सोच-विचार और क्रिया के लिए पूरी ऊर्जा नहीं मिलती इसलिए वह सो जाता है। भूखा आदमी निद्रा से ऊर्जा प्राप्त करता है। जाग्रतावस्था में मस्तिष्क और शरीर जो ऊर्जा खर्च करता है वह बच गई तो थोड़ा अच्छा लगा। थोड़ी स्फूर्ति लगी और आहार के अतिरेक में सारी ऊर्जा जठर की ओर मुड़ गई। शरीर में आलस भर गई, कार्य करना सरल नहीं रहा तो सो जाना पड़ा।

इसीलिए कृष्ण योगियों को ज़रा अलग भाषा में समझाते हुए

कहते हैं अति भूखा रहने वाला या अतिखाने वाला मुझे प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि दोनों स्थिति हानिकारक हैं। निद्रा और प्रमाद से बचना है तो उनके कारणों से बचना पड़ेगा। मैं आपको मेरी ओर से कोई नीति नियम देना नहीं चाहती हूँ। नाही कोई शास्त्रीय सिद्धांतों को या नियमों को आप पर थोपना चाहती हूँ। क्योंकि मैं जानती हूँ कि हर मनुष्य की प्रकृति अलग अलग होती है। संभव है कि एक नियम दूसरे के लिए निरर्थक बन जाए। सबका स्वभाव और बंधारण भिन्न भिन्न होता है। इसलिए मैं आपकी जिम्मेदारी आपको ही सौंपती हूँ। मुझे रिंग-मास्टर बनने का कोई शौक नहीं है। आपके भीतर के पशु के आप ही नियामक बनो। अपनी कमजोरियों को देखो, अपनी आदतों को देखो, अपनी प्रकृति को जानो, अपनी पसंद ना पसंद को भी जानो। ये सब जानना ही साधना का सही प्रारंभ है। अंधा अनुकरण मत करो। मैं आपको पूरी पूरी स्वतंत्रता देती हूँ। मैं जानती हूँ कि ठोकपीटकर बिठाए गए नियम और भय फैलाने वाला धर्म खोखला बन जाता है। और ऐसे धर्म और नियम को पालने वाले भी खोखले होते हैं। क्योंकि वहाँ कोई समझ, कोई स्वतंत्रता, कोई स्वीकार, कोई क्षमा, कोई उदारता, कोई करुणा होती ही नहीं है।

प्रेम और करुणा तथा अहिंसा की बातें करने वालों को मैंने कदम कदम पर मानसिक और शाब्दिक हिंसा करते हुए देखा है। वास्तविक प्रेम और करुणा की कसौटी तो दूसरों को स्वतंत्रता देकर हो सकती है। जकड़ कर नहीं।

मैं मेरे साधकों से कहती हूँ कि खुद के निरीक्षक और परीक्षक बनने के काबिल बनो। आदमी दुनिया के बारे में जानने और नही जानने लायक बहुत कुछ जान लेता है परंतु खुद को जानना और पहचानना चूक जाता है। मैं कहती हूँ कि साधना के प्रथम सोपान में स्वयं को

पहचानो और जानो। फिर दूसरा सोपान चढ़ना आसान हो जाएगा। आपकी प्रकृति को तीखा भोजन अनुकूल आता है, तिक्त पदार्थों से ही आपका मस्तिष्क और अन्य रसायण अच्छे ढंग से सक्रिय रह सकते हैं तो फिर सात्विक या बिना नमक-मिर्च के भोजन के चक्कर में मत पड़ो। आपको आठ घंटे नींद की आवश्यकता है तो ८ घंटे नींद लो। वहाँ किसी की शर्म मत रखो। धर्म का भय मत रखो। धर्म सुख और शांति का विरोधि नहीं हो सकता। धर्म के अर्थ में पीड़न या आत्मपीड़न नहीं है। धर्म का अर्थ है सबकुछ सम्यक रूप से चलते रहना। आपका शरीर और मन रात को देर से शांति का अनुभव करता है और आप चिंतन, मनन, साधना, अध्ययन रात के वक्त करते हो तो फिर ब्रह्ममुहूर्त में जागने के शास्त्रवचन को गले का फंदा मत बना लेना। आपके शरीर को पूरे आराम की जरूरत है और आप चार बजे की जगह आठ बजे जागे तो कोई पाप नहीं कर दिया है। कोई गुनाह नहीं किया है। आराम और निद्रा को नहीं त्यागना है; उसके अतिरेक से बचना है। क्योंकि आहार और आराम का अतिरेक आलस पैदा करता है। और आलस की आदत मनुष्य को मूढ़ बना देती है। साधना तो बहुत दूर की बात है परंतु आलसी मनुष्य रोजबरोज के काम में भी मात खा जाता है। ऐसे लोगों के लिए आध्यात्मिक विकास तो स्वप्न मात्र है परंतु सामाजिक या आर्थिक विकास करना या दो वक्त की रोटी कमाना भी असंभव हो जाता है। क्योंकि आसल की आदत पड़ गई। शरीर, मन, मस्तिष्क जड़ हो गए। वे कुछ करने को तैयार नहीं होते हैं और मनुष्य को पृथ्वी का बोझ बना देते हैं। ऐसे लोग परोपजीवी बन जाते हैं। इसलिए शिव से लेकर सभी शास्त्रकारों ने कहा कि आलस महाशत्रु है, महाविघ्न है। आलस स्वयं के द्वारा खड़ा किया हुआ विघ्न है।

महंमद बेगड़े को एक बार एक फकीर ने कहा कि यह साधन

क्यों बिगाड़ रख है? तब बेगड़े ने जवाब दिय कि इसमें मेरा दोष नहीं है, दोष भोजन का है।

प्रिय साधको!

मन चालाकियाँ करता है। आदमी संतों को भी चालाकीपूर्ण जवाब दे देने लगे तब उससे ज्यादा मूढ़ और कोई नहीं होता। ज्ञान, सत्संग, प्रेम और आशीर्वाद सरलता के गुण से प्राप्त होते हैं, चालाकी से नहीं। मेरे कहने का हेतु इतना ही है कि आहार और आलस का गहरा संबंध है। योगी अथवा ध्यानी को इस बात के प्रति विशेष सजग रहना चाहिए।

शिव कहते हैं कि दुर्बुद्धि और पापी लोग तब तक इस संसार में डूबे रहते हैं जब तक परमधाम को नहीं पा लेते हैं। मैं कहती हूँ कि चालाकियों से आपने दोषों को और कमजोरियों को ढंकने वाला दुर्बुद्धि है। ऐसा मनुष्य अपनी बुद्धि का दुरुपयोग कर रहा है। दुर्लभ मनुष्य जीवन को निरर्थक बातों में गवाँ देने से बड़ा पाप क्या हो सकता है?

शिव का उपदेश धर्म और संप्रदायों के पार का उपदेश है। अध्यात्म को धर्म और संप्रदाय की सीमाओं में नहीं बांधा जा सकता। जहाँ तक पृथ्वी पर मानव चेतना विचरण करेगी वहाँ तक समाज को अनिवार्य रूप से अध्यात्मिकता की आवश्यकता रहेगी। वह धारा फिर शिव से उतरी हो या किसी और प्रज्ञावान आत्मा से। परंतु ज्ञान हमेशा हर प्रकार के बंधनों से मुक्त होता है। किसी गादी, कोई गुरु, कोई मंदिर-मस्जिद पर कोई अपना सांप्रदायिक या धार्मिक दावा कर सकता है परंतु ज्ञान तो उसका है जो उसको समर्पित होना चाहता है। जो उसे पाना चाहता है। जो उसके लिए प्रयत्न करता है, जो जागने के लिए तैयार है।

शिव मुक्ति की अवस्था को परमधाम कहते हैं। परमधाम को प्राप्त करने का अर्थ है वहाँ से लौटना मिट गया, सब द्वंद्व मिट गए, द्वैत

मिट गया। केवल परम आनंद की अनुभूति। सारे बंधन टूट गए। एक ऐसी अवस्था में प्रवेश कि इससे अच्छा कुछ भी नहीं हो सकता। कुछ सिखने और समझने को बाकी नहीं रहा।

ना हज जाते ना हरिद्वार
हम घर में हो गए खाकसार
पलकों के बंद दरीचों में
दाता के होते हैं दीदार।

अरमान में अब उलझेंगे नहीं
कुछ समझे या बूझेंगे नहीं
पाबंदि लागि सब बक बक पे
इससे अच्छा क्या हो सकता ?

यहाँ कोई नहीं सताएंगे
ना बात बनाके फसाएंगे
बिन शर्ती बसर बनाएंगे
इससे अच्छा क्या हो सकता ?

बेबस न बनेंगे यहाँ कभा
बे सबब मिलेंगे यहाँ सभी
बेशक बेहतर है ये जीवन
इससे अच्छा क्या हो सकता ?

तुम बेमिसाल बन जाओगे
बे-पर्दा प्रभु को पाओगे
ना चिंता ना कुछ चाहोगे
है पसंद तो पहलू बदलो।

प्रिय साधको!

ऐसी अवस्था के सिवाय सब अवस्था भटकन हैं। आवागमन का उपद्रव है। बंधन खड़ा करने का बेहोश प्रयास है। संसार में भटकने की नियति का निर्माण है। अब आपको सोचना है, समझना है और तय करना है। आप संसार का, नाशवंत का, धोखा का, असत्य का अथवा भ्रम का निर्माण करना चाहोगे या मुक्ति का? परमधाम का?

शिव कहते हैं कि अगर सौ वर्ष की आयु वाला भी इस विधि का अभ्यास करे तो उसकी वीर्यवृद्धि होगी, उसे आरोग्य लाभ होगा। वह मृत्युञ्जय जैसा बन जाएगा।

बात ज़रा ध्यान देने योग्य है। सामान्य रूप से हम सब ऐसा मानते हैं कि साधना युवावस्था में करना चाहिए। शरीर जब क्षीण हो जाता है तब साधना कठिन लगती है और साधन में पूरा पूरा साथ नहीं मिलता। और यह सत्य भी है परंतु ध्यान एक ऐसी साधना है कि जिसमें मनुष्य को अंतर्मुखी बनना है। हाँ! उपवास, तप, आसन, प्राणायाम जैसे साधना प्रयोगों में आयु बाधारूप बन सकती है। वृद्ध आदमी योग की कठिन विधियों से नहीं गुजर सकता। परंतु ध्यान एक ऐसा सरल और सहज उपाय है कि जहां शरीर की मुख्य भूमिक नहीं है। वहाँ केवल सजगता और स्थिरता, निरंतरता और समग्रता की आवश्यकता है।

अगर सौ वर्ष की आयु में भी कोई जाग जाता है तो वह ध्यान को उपलब्ध हो सकता है। आचार्य शंकर के काफी शिष्य वृद्ध थे और शिवावस्था को उपलब्ध हो चुके थे। भारत में करीब पंद्रह सौ वर्ष पहले से आज तक शैव मत की वेदांतियों की शाखा में “शिवोहं” नाद के बाद ही किसी सभा, सत्संग, चर्चा आदि का आरंभ होता है। खैर! समय के साथ अनुभूतियाँ और भाव क्षीण हो गया। केवल शिवोहं शब्द रह गया परंतु भारत ने वे स्वर्णिम क्षण भी देखे हैं कि जब शिवोहं बोलने वाला व्यक्ति व्यक्ति न रहकर शिवरूप ही रह जाता था। विद्या, ज्ञान और

सत्य को पाने के लिए उम्र की सीमाओं का बंधन नहीं होता। कभी कभी तो अनुभवों से पका हुआ व्यक्ति पके हुए फल की तरह अचानक संसार वृक्ष से निवृत्त हो सकता है। जरूरी नहीं है कि उम्र के साथ हर व्यक्ति संसार के बंधन को गाढ़ बना ले। और ऐसी संभावनाओं को देखते हुए शिव कहते हैं कि सौ वर्ष की उम्र में भी इस ध्यान विधि की साधना करने वाले वीर्यवान, स्वस्थ और मृत्युंजय जैसे बन जाते हैं।

विश्व के इतिहास को देखें। राजकन्या माता देवहूति से लेकर असंख्य राजा महाराजा जीवन का अनुभव लेने के बाद, वृद्धत्व में प्रवेश करने के बाद ही वानप्रस्थ दशा में रहकर ज्ञान को उपलब्ध हो गए हैं। समझदार वृद्ध ज्यादा संतुष्ट और साधना में शीघ्र सफल होने वाला होता है। अगर वृद्ध भी सफल हो सकता है तो जवान के लिए क्या कठिन है? बात उम्र की नहीं पिपासा की है।

आपको प्रश्न उठ सकता है कि तीन सौ वर्ष की आयु में कोई वीर्यवान कैसे बन सकता है?

प्रिय साधको!

ज्यादातर लोग शब्दों को बहुत स्थूल अर्थ में लेते हैं। वीर्य का संबंध साधारण मनुष्य सीधा ही संभोग शक्ति से जोड़ देते हैं। ये मनुष्य की मन में पड़ी हुई इच्छाएं और अधूरी वासनाओं का परिणाम है। पृथ्वी पर के औसत मनुष्य ने केवल भोग जाना है। त्याग को नहीं जाना है। ऐसे लोगों के लिए त्याग कठिन है, दुःख है, पीड़ा है। जिस के लिए मन में लालच हो फिर भी उसे छोड़ना पड़ता हो तो ऐसा त्याग पीड़ा देता है, भारी लगता है। वास्तव में त्याग कोई क्रिया नहीं।

तथाकथित धर्म और धर्मगुरुओं के हंगामी प्रभाव, प्रचार-प्रसार का अतिरेक और बिना मेहनत की रोटा तथा भीड़ में सलामति की भावना तथा धर्मों को राज्याश्रय मिलना इन सभी कारणों की वजह से

भारत में साधु-संतो की भीड़ बढ़ती गई। मनुष्य पलायनवादी बनकर त्यागी बनना स्वीकार करने लगा। परंतु त्याग तो सत्यानुभव के बाद मनुष्य के भीतर जन्म लेने वाली एक प्राक्रिया है। उस प्रक्रिया में से त्यागपूर्ण अवस्था घटित होती है। परंतु साधु का वेष धारण कर लेने वाला प्रत्येक व्यक्ति सत्यानुचारी नहीं होता। जब ऐसे लोगों को त्याग करना पड़ता है, उन लोगों के लिए त्याग सहज न रहकर नियम या कानून बन जाता है, वहां त्याग बंधन बन जाता है।

मैं कहती हूँ कि त्याग का हो या भोग का परंतु बंधन आखिर बंधन है। हर बंधन दुःखदायी है। मनुष्य का चित्त अगर त्याग में हो तो उसके लिए भोग बंधन बन जाता है। और उसका चित्त अगर भोग में हो तो त्याग बंधन बन जाता है। अब आधार आदमी की मनःस्थिति में है।

परंतु एक बात सत्य है कि भोग का मार्ग सहज उपलब्ध है, आसान है, मन भोग का पुराना अभ्यास है। मनुष्य भोगमार्ग से संसार में आया है इसलिए भोग से उसकी आसक्ति ज्यादा है। उसीके लिए भोग आकर्षण है। भोग उसकी आदत है। वह ज्यादा से ज्यादा भोग भुगत लेना चाहता है। वृद्धावस्था में जब शरीर क्षीण हो जाता है तब भी भोग भुगत ना चाहते हैं परंतु इन्द्रियां साथ नहीं देती। शरीर के तंत्र असहयोग कर देते हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य शरीर की स्थिति और प्रकृति के नियम का सहज स्वीकार नहीं कर सकता। परंतु निराश, उदास और कभी कभी विकृत हो जाता है। जवान बनने के लिए वह नुस्खे आजमाने लगता है। वेद से ज्यादा उसे आयुर्वेद में रस पड़ने लगता है। लंबी आयु पाकर ज्ञानार्जन करने के लिए वह आयुर्वेद नहीं पढ़ता परंतु भोग भुगतने के लिए सक्षम बनने के इरादे से पढ़ता है। मैं देख रही हूँ कि आज कल के ज्यादातर योगगुरु अपरोक्ष रूप से योगासन, मुद्राएं, जड़ीबूटियाँ आदि का आकर्षण दिखाकर मनुष्य को विशेष भोग भुगतने के लिए सक्षम

बनाने का लालच ही दे रहे हैं। इसमें योग का मूल हेतु मारा जाता है। योग समभाव में प्रवेश करा देता है। भोग है – केवल सुख का स्वीकार और त्याग है दुःख में साक्षीभाव, असुविधाओं में भी संतुष्ट रहने की कला।

जब कोई गुरु अपने स्वार्थ अथवा अज्ञानवश शास्त्रों का मनगढ़ंत अर्थ कर लेता है तब एक भीड़ उस गलत अर्थ को सत्य मानकर उसकी प्रचारक बन जाती है और इस तरह गलत अर्थ प्रचार में आकर सही अर्थ दब जाते हैं। आज के युग में योग और ध्यान के साथ ऐसा हो रहा है। अभी भी भारत के समझदार लोग नहीं जागेंगे तो अगले १०० वर्ष के बाद योग का अर्थ केवल कसरत और समाधि का मार्ग भोग और संभोग ऐसा रह जाएगा। वृद्धत्व में जो अजाग्रत रहकर जो वृद्ध वाजीकरण प्रयोग आजमाते हैं, वे मूढ़ हैं। उन्हें समझना चाहिए कि अब तो मन के घोड़ों को शांत करना सीखना है। भीतर के पशु पर सम्यक नियमन होना चाहिए-ज्ञान के द्वारा।

शिव कहते हैं कि दूसरा कांस्यनाद है, वह प्राणियों की गति को रोकता है और निःसंशय विष, भूत और ग्रहों आदि को बांधता है।

प्रिय साधको!

मैंने थोड़ी देर पहले ही कहा था कि शिव की भाषा गर्भित है, गहन है, सार्थक है। उस का कोई शब्दार्थ ग्रहण करें तो भ्रम की दुनियां में खो जाएंगे। और शैवमार्गियों में ऐसा हुआ है। तत्व खो गया और भ्रम रह गया। मैं नहीं चाहती हूँ कि ध्यानशास्त्र के पुनरोद्धार के बाद फिर से वह अधूरे अथवा अस्पष्ट अथवा भ्रम पैदा करने वाले अर्थघटन के कारण जर्जरित हो जाएं। इसलिए इतना विस्तार कर रही हूँ।

प्रिय साधको!

मन की शक्ति अपार है। वह सूक्ष्म रूप से आत्मा का ही

स्वरूप है। उसके द्वारा जब शक्तियों का व्यय बंद हो जाता है तब उसकी समग्र शक्ति घनीभूत होकर कोई पराक्रम और चमत्कार को पैदा कर सकती है। जिसे शास्त्र संकल्प शक्ति कहते हैं। अंतर्नाद में अपनी समग्र चेतना को लगा देने वाला ध्यानी संकल्प विकल्प से पर होने पर भी जरूरत पड़ने पर मन को विशेष चेतनावान बनाकर कभी कभी कल्पनामार्ग में कुछ क्षणों के लिए प्रवृत्त कर देते हैं। ऐसे योगियों के लिए मन एक आज्ञांकित, विश्वसनीय दूत की भांति होता है। जरूरत पड़े तब उसे आदेश करते हैं सक्रिय होने के लिए। योगियों के लिए मन मर्कट नहीं परंतु सेवक होता है, इन्द्रियाँ सेविका होती हैं। शरीर साधनमात्र होता है अर्थात् चैतन्य सत्ताधीश।

शिव कहते हैं कि कांस्यनाद को जो योगी उपलब्ध हो गया है। वह प्राणियों की गति को रोक सकता है। इस संदर्भ में मैंने मेरे पिताजी के पास से सुनी हुई एक बात कह रही हूँ, किसी योगीबाबा के साथ उनकी घनिष्ठ मैत्री थी। मेरे पिताजी रेल्वेट्रेन चलाते थे। वे बार बार योगी बाबा से कहते रहते थे कि योगी पुरुष के पास स्थंभन विद्या होती है – क्या ये सही बात है? योगी बाबा जवाब देते थे कि योगी के पास सबकुछ होता है परंतु सिद्धपुरुष उसका प्रदर्शन नहीं करते। परंतु एक बार मेरे पिताजी ने हठ पकड़ ली कि आप मुझे एक बार तो स्थंभन विद्या का दर्शन कराओ। तब योगी बाबा ने कहा कि कभी संयोग हो जाएगा। एक दिन पिताजी ने ट्रेन चालू की, ट्रेन ने गति पकड़ी और अचानक चक्के जकड़ गए, ट्रेन रुक गई। पिताजी को पता नहीं था कि योगी बाबा ट्रेन के सामने प्लेटफॉर्म पर खड़े हैं, उन्होंने बहुत कोशिश की परंतु ट्रेन आगे नहीं बढ़ी, पिताजी ट्रेन में से उतरे और उन्होंने अचानक देखा कि योगीबाबा खड़े हैं। वह दूर से मुस्कुरा रहे थे। पिताजी ने आश्चर्य से पूछा कि आप! – आप तो जब आते हैं तब मुझे बताते हैं।

आज बताया क्यों नहीं? बाबा ने कहा, आज आपको कुछ और दिखाना था। परंतु फिर कभी चमत्कार देखने की ज़िद् मत करना। पिताजी समझ गए। इंजन पर चढ़े और ट्रेन चालू की - थोड़ी देर पेसेन्जर में ओहापोह हुआ परंतु कोई कुछ नहीं समझ पाया। सबने मान लिया कि ट्रेन में कोई छोटा सा फोल्ट था अब ठीक हो गया। ऐसे तो मैंने कई उदाहरण सुने हैं और पढ़े भी हैं। लोग कहते हैं कि स्वामी विवेकानंद चलती ट्रेन को खड़ी रख देते थे। वे कहते थे कि वह मन की शक्तियों का प्रभाव है। परंतु मेरे अनुभव से मैं कहती हूँ कि इसके लिए प्रबल इच्छा करनी पड़ती है - कभी कभी एक चमत्कार बंधन बन जाते हैं। लोगों की भीड़ बढ़ती है और ज्यादातर लोग आपकी ऊर्जा को शोषित करने वाले होते हैं। ऐसी भीड़ से दूर रहने में ही शांति और समझदारी है।

एक बार भगवान बुद्ध एक जंगल में से गुजर रहे थे। उस जंगल में मानवभक्षी अंगुलीमाल रहता था। बड़ा क्रूर था। वह जंगल में प्रवेश करके अपने पास से गुजरने की हिंमत करने वालों को मार देने के लिए अपने कुल्हाड़े की धार तेज़ कर रहा था। परंतु बुद्ध जैसे जैसे निकट आते गए वैसे वैसे अंगुलीमाल का ईरादा बदलने लगा और हाथ पैर रुकने लगे। वह स्वयं नियंत्रित नहीं था। बुद्ध की ऊर्जा उसे नियंत्रित कर रही थी।

पुराणों में अनेक दृष्टांत आते हैं कि भयानक हिंसक प्राणियों को ऋषि-मुनि मंत्र से शांत कर देते थे।

प्रिय साधको!

इन सारे उदाहरणों से मैं इतना ही कहना चाहती हूँ कि अपनी शक्तियों को चारों ओर से संजोकर अपने भीतर संग्रहित करके अंतर्मुखी योगी वक्त आने पर उन शक्तियों का मनचाहा उपयोग कर सकता है। परंतु आपद्धर्म अथवा अनिवार्य स्थिति में रक्षण के लिए ही ऐसा करना

चाहिए। इधर उधर चमत्कारों को दिखाता हुआ अधूरा साधक पर अवस्ता तक कभी भी नहीं पहुँच सकता।

सामान्य प्राणी की गति से योगी की आंतरिक शक्ति हजारों गुनी प्रबल होती है। तो योगी की असाधारण शक्ति से साधारण प्राणी की गति का मंद हो जाना या स्थगित हो जाना स्वाभाविक है।

शिव कहते हैं कि यह कांस्यनाद विष, भूत तथा ग्रहों को बांधने वाला है। इसका अर्थ है कि ऐसे योगी पर विष, भूत या ग्रहों का प्रभाव नहीं पड़ता – विष, भूत और ग्रह उसका नुकसान नहीं कर सकता।

यह बात सुनकर भी किसी भी बौद्धिक व्यक्ति को प्रश्न उठ सकता है कि क्या ऐसा संभव है? भूत और ग्रहों की बात तो अभी साइड पर रखते हैं। अभी केवल विष की बात करें।

प्यारे भक्तों!

जब साधक विधि को समर्पित होकर सबकुछ अस्तित्व पर छोड़ देता है। वह कुछ भी अपना है अथवा घटनाओं के लिए “मैं जिम्मेदार हूँ” – ऐसा मानना छोड़ देता है तथा अंतर्मुखी बनकर अपनी सारी शक्तियों को केन्द्र में समाविष्ट कर देता है तब घटती हुई घटनाओं का असर साधन पर आता है परंतु मन पर नहीं आता। क्योंकि मन रहा ही नहीं। तो घटनाओं के पक्ष-विपक्ष में कौन जाएगा? और एक बात याद रखना! किसी भी घटना का असर शरीर के पहले मन पर आता है। आप कहेंगे कि मन कहां है? मैं कहती हूँ कि मनुष्य मन रोम रोम में है – रग रग में है। है तो नख से शिखा तक है, नहीं है तो होने पर भी कहीं नहीं। आपको बात जरा अजीब लगेगी – क्योंकि आपने सुना है कि मनुष्य का मन पेट में है। आज के विज्ञान ने भी साबित कर दिया कि मन की प्रमुख ग्रंथि पेट से संलग्न है। मैं ये नहीं कहती हूँ कि शास्त्र अथवा विज्ञान झूठा है परंतु मैं यह कह रही हूँ कि पेट का संबंध पूरे

शरीर से है। जैसे पेट पूरे शरीर को पोषता है, पालता है। वैसे ही मन पूरे शरीर को अपने साथ संलग्न रखता है। मन कोई ऐसी चीज नहीं है कि जिसे गुर्दा, स्टमक, हृदय, प्लीहा या यकृत की भांति बताया जा सके। मन की ग्रंथी पेट से विकसित होकर पूरे शरीर में व्याप्त होती है। पूरे शरीर को घेर लेती है। वह शरीर का सूक्ष्म परंतु महद् हिस्सा बन जाता है। मनुष्य की अजागृतावस्था में वह रक्त के क्रतरे क्रतरे से अपनी मनमानी कराता रहता है। और ज्यादातर लोगों का जीवन इसमें ही समाप्त हो जाता है। मन नई नई वासनाओं को इस तरह से पैदा करता है कि मनुष्य अन्जाने में उन वासनाओं को विकास और सुख मानकर उसके पीछे पीछे भागकर थककर मर जाता है। वासनाओं के ढेर से मन पुष्ट होता रहता है। शरीर अन्न से पुष्ट होता है। मन इच्छाओं से पुष्ट होता है। वह फिर नए नए शरीर में आता रहता है और इस तरह से एक अंतहीन चक्र चालू रहता है। वही है संसार।

ध्यान इस चक्र से मनुष्य को मुक्त कर सकता है। इस चक्र से मुक्त होने की अनेक अनेक विधियां हैं। आप किसी भी एक अनुरूप विधि में प्रवेश पाकर मुक्ति पा सकते हैं। जो इच्छा-शरीर से पार चला गया उसने मुक्ति में प्रवेश कर लिया। और ऐसे योगी के शरीर पर चीजों की नकारात्मक असर कम आती है।

मीरा अंतर्नाद में तल्लीन हो चुकी एक प्रेममार्गी साधिका थी। कृष्णभक्ति उसके लिए अंतर्मुख होने का मार्ग था। फिर मीरा और मोहन भिन्न नहीं रहे थे। ऐसी मीरा को, न जीने की कोई आसक्ति बची थी न मृत्यु का भय। वह तो पूर्णरूप से अस्तित्व को समर्पित थी। उस अस्तित्व को वह कृष्ण कहती थी। कोई राम कहता है कोई अल्लाह। और उसके भरोसे मीरा जहर भी पी गई। वह जीना भी नहीं चाहती थी मरना भी नहीं चाहती थी। उसको अपने भगवान पर भरोसा था। भरोसे का अर्थ

है – वो जो करेगा वह सही करेगा। हर फैसला अज्ञात पर छोड़कर और उसके भरोसे के आधार पर मीरा ने जहर पी लिया। मीरा हलाहल से भी बच गई, क्यों? क्योंकि जहाँ मन है वहाँ माया है। जब मन मर गया तो फिर सारे भ्रम से मुक्ति। माया का अर्थ ही है भ्रम। माया से मुक्ति तो संसार से मुक्ति। शरीर की मृत्यु एक भ्रम है, मन की मृत्यु एक सिद्धि है। मन की मृत्यु मनुष्य को निर्भय कर देती है – वह निर्भयता का लाभ शरीर को भी मिलता है और शरीर कष्टों को भी हंसते हंसते झेल जाता है। यही हुआ था मीरा के साथ। मन्सूर के साथ। इसु के साथ। बीमार मन शरीर को जल्दी ठीक नहीं होने देता। स्वस्थ चित्तवान् स्वास्थ्य को जल्दी प्राप्त कर सकता है।

अब बात रही भूत और ग्रह की। इनमें से पहले भूत की बात करें। कई धर्म शास्त्र भूत-प्रेत में विश्वास करते हैं। खास करके भीमरीय धर्म शास्त्र भूत, प्रेत, पितर आदि योनियों के वर्णन करते हैं। कौन सा व्यक्ति कौन सी योनि में जाएगा? यह भी बताते हैं। उन सबका कुल मिलाकर मैं इतना ही अर्थ करती हूँ कि वासनाओं के ढेर की वजह से जीव दूसरे को परेशान करता है। वह परेशान करना चाहता नहीं है परंतु उसकी मौजूदगी ही परेशानी है। जैसे कि खटमल, मच्छर, मक्खी या चांचड़ का कोई व्यक्तिगत बैर नहीं है आपके साथ, वे इरादे के साथ आपको नहीं काटते हैं, उसका अस्तित्व ही आपके लिए परेशानी है। वैसे ही कुछ अशरीरी मन ब्रह्मांड में मौजूद हैं। जिसके पास भोग भुगतने के लिए शरीर नहीं है; केवल वासना बची है। ऐसी ऊर्जा कई बार आपसे टकरा जाती है। वह एक अज्ञात टकराहट है। जागे हुए लोग ऐसी घटना को जान लेते हैं, समझ लेते हैं। उन टकराहट के सामने सुरक्षित कर लेते हैं स्वयं को। परंतु साधारण मनुष्य परेशान हो जाने के बावजूद भी परेशानी का कारण नहीं जान सकता। डॉक्टर और आधुनिक विज्ञान भी

जब असफल जाता है तब ऐसी स्थिति को लोग भूतदोष कहते हैं। और ऐसे लोगों की आंतरिक शक्तियों के कमजोर होने का भरपूर लाभ भूतदोष से मुक्त करने के नाम से कुछ ढोंगी लोग उठाते रहते हैं। थका हुआ और हारा हुआ मनुष्य थोड़ा आश्वासन ले लेता है। परंतु वास्तव में उन अज्ञात ऊर्जाओं से सुरक्षित रहने का एकमात्र उपाय है – आध्यात्मिक शक्ति को बढ़ाना, ऐसी शक्ति ध्यान के द्वारा विकसित होती है। ध्यान में डूबते डूबते जो साधक कांस्यनाद को सुनने लगता है उसे फिर ऐसी वासनापूर्ण ऊर्जा विक्षिप्त नहीं कर सकती। परंतु उसे सहयोग करने लगती हैं, अपनी मुक्ति के लिए। जैसे कोई पापी संत की सेवा करके तैर जाना चाहता है, ठीक वैसे ही..।

ज्यादातर लोग नकार से भरे हैं। नकार से नकार टकराता है तब दुःख और क्लेश बढ़ता है और नकार पुष्ट होता है। प्रबल हकार से जब नकार टकराता है तब हकार को कम चोट पहुंचती है। और जब शून्य से नकार टकराता है तब नकार को लगता है कि मेरा टकराना निरर्थक है। मैं यहाँ कोई विक्षेप खड़ा नहीं कर सकता। नहीं मैं पुष्ट हो सकता हूँ। और तब वह कुछ नकारात्मक करना और चाहना बंद कर देता है। और कभी कभी नकारात्मकता से मुक्त भी हो जाता है।

आध्यात्मिक पुरुष, ध्यानी पुरुष, योगी पुरुष शून्य जैसा बन जाता है। उसे कोई गाली दे कि प्रशंसा करे वहाँ कोई फर्क नहीं पड़ता। क्योंकि वहाँ केवल शून्य ही है। प्रतिक्रिया करने वाला कबका विदा हो गया! ये अंतर्नाद को उपलब्ध होने का परिणाम है।

अब बात रही ग्रह की। शिव कहते हैं – कांस्यनाद को उपलब्ध साधक को ग्रह असर नहीं करते। अब तो बात बहुत सीधी और सपाट है। ग्रह, नक्षत्र आदि पूरे अस्तित्व का ही एक अंश हैं। जब कोई साधक के पास मन है तब तक मान्यताएं बचेंगी। मन खो गया तो मान्यता भी

गई। सुख गया तो दुःख भी गया। राग गया तो द्वेष भी गया। कुछ बातें ऐसी हैं कि जो एक चला जाता है तो दूसरा अपनेआप अदृश्य हो जाता है। ज्योतिष शास्त्र, वास्तुशास्त्र, सामुद्रिकशास्त्र, हस्तरेखा शास्त्र आदि के साथ फलकथन जुड़ा हुआ है। परंतु जब अच्छे फल की चिंता भी मिट जाती है। जब आप ध्यान में विलीन होकर शून्य बनते जाते हैं। अर्थात् “मैं” अथवा कर्ताभाव पूरी तरह मिट रहा होता है तब अस्तित्व पर भरोसा बढ़ता जाता है। पूरा पूरा समर्पण घटित होता जाता है। नाद में साधको को न गुरु के शुभ फल की अपेक्षा होती है, न राहू से होते दुष्परिणाम की। अध्यात्म की उच्च अवस्था में जो पाप-पुण्य ही मिट जाता है तो पाप ग्रह अथवा अशुभ ग्रह और शुभ ग्रह की चिंता भला कौन करेगा ?

प्रिय साधको !

अब शायद आपकी समझ में आ गया होगा कि कांस्यनाद प्राणियों की गति को कैसे रोक सकता है ? और विष, भूत तथा ग्रहों को कैसे बांधता है ? इतना ही नहीं परंतु वह औरों की भी मदद कर सकता है।

शिव कहते हैं कि तीसरा शृंगीनाद है। यह अभीचारिक है। इसका प्रयोग शत्रु के उच्चाटन के लिए होता है।

प्रिय साधको !

आपको याद होगा कि विधि को समझने के बाद नादविज्ञान को बताते हुए शिवजी देवी से कहते हैं कि अब मैं नादसिद्धि क्रम से कह रहा हूँ। हे देवी ! यह अनाहत शब्दब्रह्म परम कल्याणकारक तथा उच्चारण में न आने वाला है।

साधना मार्ग में यात्रा प्रारम्भ करने के बाद साधक विविध पड़ावों और सोपानों से गुजरता है। सोपान चढ़ते चढ़ते साधक लक्ष्य

की ओर बढ़ता है। कुछ सोपानों से साधक का साधना में आत्मविश्वास बढ़ता है, कुछ सोपानों से उसका शुद्धिकरण होता है। कुछ सोपानों से सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं और कुछ सोपान अंतिम ऊँचाई पर पहुँचाते हैं। अंतिम शिखर पर पहुँचते पहुँचते दो घटना घट सकती हैं। शिखर पर का महाएकांत। सबीज समाधि का महाएकांत जो पचा लेता है उसके लिए सारी सीढ़ियाँ निरर्थक हो जाती हैं। जैसे सागर पार के देश की भूमि पर उतर जाने पर जहाज भी छूट जाता है। परंतु जो पचा नहीं सकता है वह समाधि आनंद से विमुख होकर फिर से संसार से उन्मुख होने के लिए, अपने संसार को बचा लेने के लिए सीढ़ियाँ उतरने लगता है। ऐसा कई ऋषि-मुनियों के साथ भी घटा है। कुछ यात्री अमुक सोपान पर अटक जाते हैं। उनमें से सिद्धि के सोपान से आकर्षित और तुष्ट होकर रुक जाने वाले ज्यादा होते हैं। इसलिए योगशास्त्र और ध्यानयोग से संबंधित कई शास्त्र बार बार कहते हैं कि अच्छा योगी या साधक सिद्धियों से आकर्षित नहीं होता। न सिद्धियों का उपयोग करता है, न किसीको सिद्धि का प्रलोभन दिखाता है। वही मनुष्य समाधि के शिखर तक पहुँच सकता है, जो अज्ञात से प्रेरित रिद्धि-सिद्धि के लोभ में नहीं पड़ता।

प्रिय साधको!

स्वयं शिव कह रहे हैं कि अनाहत नाद के नौ नादों के प्रत्येक नाद में भिन्न भिन्न प्रकार की सिद्धि प्राप्त होती है। यहाँ शिव सिद्धियाँ भी बताते हैं और उनके पार के विश्व की भी बात करते हैं। ये सारी बात साधक के मन में ध्यान विधि के प्रति आकर्षण पैदा करने के लिए नहीं हैं परंतु समझाने के लिए हैं कि फूल इतने प्रभावक और मीठे हैं तो फल कैसा अद्भुत होगा? अभी तो यात्रा चल रही है, यात्रा के पड़ावों में अगर साधक सिद्धि संपन्न हो जाता है तो शिखर पर की क्षमता कितनी लाजवाब होगी? सफलता के चिह्न ऐसे असाधारण हैं तो सफलता

कैसी होगी ?

अब आईए नाद सिद्धि की बात करें। शिव कहते हैं कि शृंगनाद अभिचारक और शत्रु का उच्चाटन तथा उसका नाश करने वाला है। किसी को प्रश्न उठ सकता है कि क्या शिव को ऐसी बात करनी चाहिए ?

प्रिय साधको !

शिव को क्या कहना तथा क्या नहीं कहना, यह आपको तय नहीं करना है। दूसरी बात शिव तटस्थ हैं। जहाँ जहाँ वह साधना संबंधित चर्चा कर रहे हैं वहाँ सभी स्थानों पर शिव ने सबकुछ बेपर्दा करके बताया है। शिव एक निर्भय गुरु हैं, निखालस हैं, उदार और सरल एवं स्पष्ट हैं। वह अपनी शिष्या से कुछ भी छिपाना नहीं चाहते। अपनी सारी अनुभूतियों को यथासंभव बता देना चाहते हैं। वे देवी को साधना के लिए सक्रिय करना चाहते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि अगर नारीशक्ति ध्यान में उतरेगी तो ही विश्व में ध्यान बचेगा। क्योंकि नारी सृष्टिविकास की प्रमुख धुरा है। जन्मदात्री है, पालक, पोषक और सर्जक है। नारी अगर इस ज्ञान को पेट में उतार देगी तो पेट में पलती हुई संतान ध्यान के संस्कारों के साथ ही पृथ्वी पर आएगी। यह सन्नारी अन्य नारियों को भी यह ज्ञान आसानी से दे पाएगी। इस सत्य को अच्छी तरह से जानकर, समझकर नारी को साधना और ज्ञान के लिए सर्वश्रेष्ठ पात्र समझकर शिव उसे सबकुछ साफ साफ बता रहे हैं।

यहाँ शृंगनाद को अभिचारक कहा है। अभिचारक का अर्थ है शत्रु को नष्ट करने की विधि। आदि काल में अभिचार कर्म मान्य था, अभिचार कर्म के लिए यज्ञ-यागादि होते थे। आप पुराणों को पढ़ना उसमें विष्णुने अभिचार प्रयोग से देवों की रक्षा के लिए जिन को उत्पन्न किये थे। जहाँ से जैन मत आगे बढ़ा, जिन्होंने विविध रूप लेकर असुरों को संहारा। ऐसे तो अनेक उदाहरण हैं। परंतु समय के साथ मनुष्य में से

देवत्व खत्म होने लगा। वह केवल मन से ही जीने लगा। मन तो जहाँ अपना स्वार्थ सिद्ध होता है वहाँ दोस्ती कर लेता है और जहाँ स्वार्थ सिद्ध नहीं होता उससे शत्रुता मोल लेता है। केवल मन में अर्थात् वासनाओं में, इच्छाओं में, स्वार्थ में जीने वाले लोगों ने अपने स्वार्थ के लिए अभिचार कर्म करना शुरू कर दिया और आत्मरक्षा के स्थान पर अभिचार कर्म का उपयोग हिंसा करने में, निरपराधों नष्ट करने में और नारियों का शोषण करने में तथा मनुष्य को विवश, पागल और लाचार करके उसका धन हरण करने के लिए होने लगा। द्वेष के और अहंकार के कारण निर्दोष लोग जब अभिचार कर्म का शिकार बनने लगे तब यह एक धार्मिक दूषण बन गया। आत्मरक्षा के लिए जो तंत्र-मंत्र का समावेश धर्मशास्त्रों में किया गया था उस विधि-विधान का प्रयोग करके लोग घोर अधर्म करने लगे; तब इस दूषित कर्म-कांड में से समाज को छुड़ाने के लिए बाद के धर्म शास्त्रों ने अभिचार कर्म को पाप माना। खास करके वैष्णव धर्म की सभी शाखाओं में अभिचार मार्गी शैवों का स्पष्ट विरोध किया और मनुष्य को फिर से एक बार सच्चा मनुष्य बनाने का प्रयास प्रारंभ कर दिया। जिसमें मनुष्य को सरल, सुलभ, सुखद और सात्विक भक्तिमार्ग प्रदान किया। जिसमें बहिर्शुद्धि से प्रारंभ हुआ।

अब मूल बात की ओर आईए। यहाँ शिव अभिचार सिद्धि और शत्रु का उच्चाटन तथा मारण की बात क्यों करते हैं? पहली बात तो शिव स्पष्ट और सत्यवक्ता हैं। दूसरी बात ये भी समझ लीजिए कि यहाँ शिव न अभिचार कर्म के लिए मनुष्य को प्रेरित कर रहे हैं न ही अभिचार कर्म को प्रोत्साहन देते हैं। यहाँ तो अनाहत नाद की उपासना करते करते योगी को जो जो सिद्धि प्राप्त होती है उसकी सीधी बात कर रहे हैं।

एक दूसरी बात – मैंने मेरे ध्यान विषयक ग्रंथों में कई जगह पर कहा है कि ध्यान मनुष्य को विश्वमित्र बना देता है। अज्ञातशत्रु अवस्था

में ले जाता है ... इत्यादि। तो आपके मन में प्रश्न उठ सकता है कि तो फिर अभिचारक सिद्धि को क्या करना है? मैं भी कहती हूँ कि वृक्ष को अगर उचित खाद, पानी, वातावरण और सूर्यप्रकाश मिल रहा है तो फूलेगा फलेगा ज़रूर। आप उसके फलों को भुगतो, बेचो, न बेचो, फैंक दो या दान कर दो। ये आपकी मरजी। वैसे ही सिद्धि तो सिद्धि है – उसका उपयोग करना न करना ये साधक पर निर्भर करता है। उपरांत उपयोग करने की आवश्यकता अथवा अनिवार्यता है कि नहीं यह भी साधक ही तय कर सकता है। ये शिव, मैं, आप या अन्य कोई तय नहीं कर सकता।

एक तीसरी बात, सिद्ध योगी को तीन स्थितियों में उसकी सिद्धि का उपोय करना पड़ता है। एक तो आत्मरक्षा, दूसरी अन्यरक्षा और तीसरी स्थिति है अन्य को शीघ्र रूपांतरिक करने की अनिवार्यता। ऐसी स्थितियों में किया हुआ सिद्धि का उपयोग, सिद्धि को भुगतना या सिद्धि प्रदर्शन नहीं कहा जा सकता।

यहाँ बात को जरा विस्तार से समझनी पड़ेगी। ऐसा जरूरी नहीं है कि आपके मन में किसी के लिए दुर्भाव या शत्रुभान नहीं है तो किसी भी को आपके प्रति शत्रुभाव नहीं हो। इतिहास में ऐसे हजारों उदाहरण हैं कि निर्दोष तपस्वी ब्राह्मण या ऋषि-मुनि किसी को भी विक्षेप किए बिना अपनी धुन में, जीवन में, तप में, साधना में मस्त रहते थे फिर भी दुष्ट लोग और असुर वृत्ति के लोग उन्हें सताने के लिए और मारने के लिए आ जाते थे।

साधना पूर्ण हो जाने के बाद साधक पूर्णरूप से सिद्ध बना जाता है। वह बिलकुल वासना मुक्त अवस्था में पहुँच जाता है। फिर उसे जीवन या मृत्यु से कोई फर्क नहीं पड़ता। परंतु जब तक यात्रा में है तब तक वह एक आंतरिक प्रक्रिया में से गुजर रहा होता है। उसके भीतर

वासना मुक्त होने की वासना, पूर्णता की वासना बनी रहती है। ऐसी अवस्था में वह मृत्यु के पार पहुँचा हुआ नहीं होता। पात्र थोड़ा कच्चा होता है। वह साधना से पकना चाहता है। पकने के लिए तप कर्मों से साधना की अग्नि में तपता है। मंजिल अभी दूर है। बीच रास्ते में अगर उसे कोई परेशान करे या मारना चाहे तो लड़ भी नहीं सकता। क्योंकि लड़ने में अगर समय और ऊर्जा गवां दी तो साधना कब करेंगे! शत्रु की शारीरिक और शस्त्र शक्ति के प्रमाण में अगर साधक की क्षमता कम है तो कैसे हो पाएगी साधना? मुकाबले में अगर मर भी गए तो अभी तो साधना की इच्छा थी, योगी का ध्येय इच्छाओं के साथ मरने का तो होता नहीं। ऐसी स्थिति में इच्छाओं के कारण मृत्यु मुक्ति नहीं परंतु बंधन बन सकता है। तो ऐसी स्थिति में क्या किया जाए? साधक की ऐसी दयनीय स्थिति दयनीय नहीं रहे और उसका अस्तित्व में दृढ़ विश्वास रहे इसलिए स्वयं अस्तित्व व्यवस्था करता है। योगी जैसे जैसे अपनी समग्र ऊर्जा को साधना में लगाकर ध्यान में स्थिर होकर विकसित होने लगता है वैसे वैसे उसकी हर प्रकार की आवश्यकता और रक्षा का ख्याल अस्तित्व रखता है।

प्यारे साधको!

ध्यान रहे! यहाँ शिव ने ऐसा नहीं कहा कि योगी अभिचार कर्म से शत्रु को मार सकता है। शिव ने ये कहा है कि शृंगनाद अभिचारक, शत्रु उच्चाटन और शत्रु मारण है। इसका अर्थ है कि साधक आत्मरक्षा के लिए उनको शत्रु मानकर और उनके शत्रु बनकर आए हुए लोगों के लिए कुछ भी करना नहीं पड़ता परंतु अनाहत नाद का उपासक योगी तीसरे सोपान पर चढ़ते ही उसमें उत्पन्न शृंगनाद का प्रभाव भीतर और बाहर के शत्रुओं को सहज ही नष्ट कर देता है। यहाँ साधक किसीका नाश चाहता नहीं है, ना ही मन से कोई दुर्भाव करता है। परंतु उसके भीतर

प्रगटा हुआ शृंगनाद सहज ही अभिचारक है। और आवश्यकता खड़ी होने पर वह ऊर्जा स्वतः सक्रिय होकर शत्रु को नष्ट कर देती है और साधक की रक्षा होती है। भीतर के शत्रु से जीत जाने से साधक का आत्म रक्षा का संकल्प ही शत्रु का नष्ट होना हो जाता है। बाहर के शत्रुओं के नाश के लिए अस्तित्व कोई और तरीका आजमाता है और साधक सुरक्षित रहता है।

कभी कभी ऐसा भी होता है कि किसी निर्दोष पर हमला हो रहा हो और ऋजु हृदय का योगी परिस्थिति में साक्षी नहीं रहना चाहकर उसकी रक्षा की प्रार्थना का संकल्प करने लगता है। तभी भी उसकी सूक्ष्म ऊर्जा किसी भी रूप में अस्तित्व के द्वारा कार्यान्वित होकर साधक के संकल्प को पूर्ण करती है।

कभी कभी कुछ पहुंचे हुए योगी जब किसी ऊर्जावान मनुष्य को नियतिवश दुष्कर्म में प्रेरित होकर पूरी मनुष्यता को नुकसान करनेवाला देख लेते हैं तब करुणावश अपने संकल्प बल से उसे रूपांतरित कर देते हैं। ऐसी स्थिति में अस्तित्व कुछ ऐसी घटना का या मनोदशा का सृजन करता है कि पापी पुण्यात्मा बन जाता है। जैसे कि नारद को लूटने के लिए आया हुआ और असंख्य लोगों को मार-काट कर आतंक मचाने वाला रत्नाभील वाल्मिकी ऋषि बन गया। सौराष्ट्र की सती तोरल के साथ नौका में बैठकर जाने वाला जंगली लुटेरा सामुद्रिक तूफान से भयभीत होकर बदल गया और पीर बन गया।

प्रिय साधको!

अब शायद आप समझ गए होंगे कि आभिचार कर्म करना या कराना एक बात है और अंतर्नाद की शक्ति से सहज ही शत्रु का नाश होना ये एक आध्यात्मिक घटना है। लोग उसे चमत्कार कहते हैं परंतु ध्यान के अनुभवियों के लिए ये सब स्वाभाविक है।

शिव अनाहतनाद के अभिचारी प्रभाव की बात करते हैं इसका मतलब यह नहीं है कि वे हिंसा या अभिचार करना कहते हैं। शिव तो लड़ने के लिए सक्षम थे। वे तो सिद्ध होने पर भी स्वयं युद्ध मैदान में उतरते थे। शिव चरित्र में शिव को सौ अवतारों में से काफी सारे अवतारों में शिव ने युद्ध किया है। शिव कम से कम २५ युद्ध लड़े हैं। राम और कृष्ण भी लड़े थे, वहीं उनका अवतार कार्य था। वे धर्म उपरांत लड़ने के लिए सक्षम थे। न तो राम रावण को शत्रु मानते थे और कृष्ण कंस को परंतु रावण राम को और कंस कृष्ण को तथा बाणासुर शिव को शत्रु मान ले तो उसका एक ही उपाय था कि उनके अज्ञान को हरना। प्रबुद्ध पुरुषों का युद्ध भी अज्ञान को हरने का एक कार्य होता है। बाकी शिव तो हिंसा और अहिंसा दोनों के पार हैं। वे तो अतिअहिंसक हैं और अतिहिंसक भी। पापियों से फैलती हिंसा को रोकने के लिए महासंहार का शस्त्र अपनाकर शिव ने अहिंसा को ही स्थापित किया है। केवल पद्धति शिव के बाद पैदा होने वाले अहिंसाधर्मियों से विपरीत थी। शिव मंत्रशक्ति, तंत्रशक्ति और अस्त्रशक्ति सबके ध्याता हैं। वे योगी भी हैं, भोगी भी। ध्यानी भी हैं, ज्ञानी भी। श्रोता भी हैं, वक्ता भी। नृत्यकार भी हैं और संगीत को उत्पन्न करने वाले भी। उत्तम भक्त भी और भगवान भी। एक ज्ञानी भी हैं और स्वयं ज्ञान भी। त्यागी भी हैं और गृहस्थी भी, पति भी हैं और यति भी। पिता भी हैं गुरु भी। भिक्षु भी हैं और धनपति के नाथ भी। सृष्टि के सर्जक हैं और संहारक भी। ऐसी बेजोड़ हस्ती के द्वारा बताई गई ध्यान विधि अपूर्ण, अधूरी या चुनौति करने जैसी नहीं हो सकती। लोमड़ी को अंगूर खट्टी लगे तो उसमें अंगूर का दोष नहीं है।

अभिचार प्रयोग मंत्र और तंत्र दोनों प्रकार से हो सकता है। शिव तंत्र शास्त्र प्रवर्तक हैं। मंत्रशास्त्र शिव के बाद विकसित हुआ। और याद रहे! जहाँ से ध्यान का प्रारंभ होता है वहाँ से तंत्र क्षेत्र का शुरु होना

समझ लेना। वह ध्यान प्रकार भले भक्तिमार्ग से, संगीतमार्ग से, श्वासमार्ग से या संकल्प मार्ग के अंतर्गत हो परंतु एक अर्थ में ध्यान तंत्र है और तंत्र ध्यान है। तंत्र शब्द के माध्यम से नहीं परंतु गहन मौन से सीधा ही मनुष्य की चेतना का उर्ध्वीकरण करता है। फिर उस चेतना से चमत्कार घटने लगते हैं। वे मनुष्य के मन और बुद्धि के पार के होते हैं।

इस सारे रहस्यों से अबोध कुछ धार्मिक संप्रदायों ने शैव मत का जमकर खंडन किया और विरोध किया। विरोध हमेशा प्रबल का होता है। दुर्बल का विरोध करने की क्या आवश्यकता? वह तो पहले से ही टूटा हुआ है। भारत के शैव साधना मार्ग में सक्षम और सफल थे। उनकी क्षमता के आधार पर सीधा सीधा मुकाबला करीब करीब असंभव था। उस दौर में कुछ शैवपंथी तंत्र मार्ग का भरपूर दुर उपयोग भी कर रहे थे। उस मुद्दे से राम और कृष्ण की केवल भक्तिमार्गी उपासना करने वालों को भड़काने में काम आ गया। लोगों के मन में दृढ़ होता गया कि तंत्र अर्थात् मैली विद्या, जादू टोना, झाड़ू-फूंक, मारण उपाय। इससे भोले अनपढ़ और अध्यात्म जगत से अज्ञात लोग तंत्र शब्द से डरने लगे और धीरे धीरे तंत्र खो गया। भारत की अध्यात्म के लिए सक्षम प्रजा वंचित रह गई तंत्र के अजोड़ ज्ञान और अनुभूतियों से। मुख्यतः ध्यान से वंचित रही। जिसके फलस्वरूप भारत को अजागृत पीढ़ियाँ मिलीं। ध्यान के अभाव में मनुष्य बे-ध्यान होता गया। उसका हृदय, भक्तिभाव और मस्तिष्क तो विकसित हुआ परंतु ध्यान के विज्ञान को लोग चूक गए। उसकी आत्मा न खिल सकी। आध्यात्मिक दृष्टि से वह पंगु जैसा रह गया। वह शांति के लिए इस मंदिर से उस मंदिर, इस धर्म संप्रदाय से उस धर्म संप्रदाय और इस गुण से उस गुण तक सैंकड़ों वर्षों से फटक रहा है। परंतु आज तक उसको अपना उत्तर नहीं मिला। मैं कहती हूँ कि आपका उत्तर आपके भीतर है। उतरो ध्यान में सुनलो अनाहत नाद को

और हमेशा हमेशा के लिए प्राप्त कर लो शाश्वत समाधी को। फिर आपको कुछ नहीं करना पड़ेगा, सबकुछ स्वयं ही होगा।

शिव कहते हैं कि इस विधि को करने वाला वीर्यवान होता है। मैं यह कहना चाहती हूँ कि शाश्वत वचन को लेकर गलतफहमी मत करना। समझ को उल्टी मत कर देना। कुछ लोग उपदेश का और उद्देश्य का शीर्षासन कर देते हैं। मेरी पुस्तक को पढ़कर वीर्यवान होने के लिए ऐसी-वैसी विधि में मत पड़ना। विधि केन्द्र में है। लक्ष्य को बदल मत देना। अगर ऐसा किया तो “दुविधा में दोनुं गए, माया मिली ना राम” ऐसा हाल होगा। खैर!

“वीर्यवान” शब्द का शाब्दिक अर्थ मत लगा लेना। “वीर्य” अपने में बहुत विस्तृत अर्थ रखने वाला शब्द है। उसे केवल एक धातु के संदर्भ में मत समझ लेना। वैसे तो मैंने बहुत वीर्यवान लोगों को आकर्षणों के सामने, लोभ के सामने, परिस्थितियों के सामने नपुंसक होते हुए देखा है। ऐसे वीर्यवानों को मैं वीर्यवान नहीं कहती हूँ। वीर्य का अर्थ है, शक्ति। शक्ति एक सूक्ष्म क्षमता है। जरूरी नहीं कि बाहरी प्रदर्शनों से ही वह सिद्ध हो। कुछ शक्तियों का दर्शन करना होता है। ये शक्तियाँ आंतरिक बल से संबंधित हैं, तेज से संबंधित है, प्रभाव से संबंधित हैं, दिव्यता से संबंधित हैं, आत्मबल से संबंधित हैं। आशा, उत्साह और सफलता से संबंधित हैं। और वास्तव में ऐसी शक्ति ही मनुष्य को आध्यात्मिक शक्ति से संपन्न और पूर्ण बनाने में मदद करती है। केवल शारीरिक शक्ति तो समझ के बिना, सजगता के बिना उपद्रव पैदा करती है।

क्षमता, ऊर्जा, साहस, सामर्थ्य, आभा, कांति, गौरव जैसे वीर्य के अनेक अर्थ होते हैं।

प्रिय साधको !

इस विधि से गुजरने वाले साधक में हकारात्मक ऊर्जा, साधना में साहस, आध्यात्मिक धैर्य, चहरे की कांति और आत्मगौरव विकसित होता है। जिसे “वीर्यवान” शब्द जैसा एक ही सबल प्रयोग करके बताया जा सकता है। प्रज्ञावान पुरुष थोड़े में बहुतकुछ कह देते हैं परंतु उसकी वाणी को समझने में अक्षम लोग अपनी समझ या पहुंच के अनुसार उसका अर्थ कर लेते हैं।

शिव कहते हैं कि इस विधि से अरोग्य लाभ होता है। आ-रोग्य का अर्थ है, अ-रोग की स्थिति। मनुष्य किसी ना किसी रोग से पीड़ित है। कोई शरीर रोग से, तो कोई मनोरोग से। परंतु ध्यान में प्रवेश करने वाला दोनों प्रकार के रोग से छुटकारा पा लेता है। इसका अर्थ ये नहीं कि ध्यान करने वालों को कभी सर्दी-जुकाम नहीं होते या सरदर्द नहीं होता। परंतु इतना जरूर कि ध्यानी का शरीर किसी बिमारी की लपेट में आ सकता है, ध्यानी नहीं। आम आदमी की सहनशीलता से ध्यानी की सजगता विशेष होने की वजह से उसका शरीर रोग ग्रस्त हो जाने पर भी उसका मन रोगग्रस्त नहीं होता। वह देह को देह से पर होकर एक शुद्धचेतना की भांति साक्षी भाव से देख सकता है। ध्यानी कभी ऐसा नहीं मानता कि पीड़ा मुझे हो रही है, ध्यानी कहता है कि मेरा शरीर पीड़ाग्रस्त है। ध्यान के कारण उसकी क्षमता, सहिष्णुता की क्षमता, समझ का सामर्थ्य बढ़ जाता है। और एक दूसरी बात खास याद रहे। रोग को हमेशा शरीर से ज्यादा मन पकड़ लेता है। और तब रोग का असर बढ़ जाता है। अ-रोग का अर्थ है रोग को पकड़ना नहीं है, मैं रोगी हूँ ऐसा मानकर टूट नहीं जाना है। बाकी शरीर तो व्याधि से ग्रस्त ही है, बुद्ध हो या महावीर, राम हो या कृष्ण, देह तो शव होने के लिए और नष्ट होने के लिए ही बना है। ऐसा होना उसकी नियती है। परंतु आरोग्य का

अर्थ है, स्वास्थ्य। स्वास्थ्य का अर्थ है, स्व में स्थित होना। जिसने स्वयं में स्थित होने की कला जान ली वह बीमार कैसे हो सकता है? ध्यान है स्वयं में स्थिर होने की कला। और जो स्व में स्थित हो जाता है वह मृत्युंजय बन जाता है। क्योंकि “स्व” है शाश्वत, सर्वसाक्षी, सर्वशक्तिमान और पूर्ण। उसको मारने का कोई उपाय नहीं। मरता है केवल शरीर, ऊर्जा का तो रूपांतरण होता है, वह कभी नष्ट नहीं होती। और प्रत्येक जीव ऊर्जा है, कोई कम तो कोई ज्यादा। और वह महा ऊर्जा का अंश है।

एक दूसरी बात भी समझ लेना। आरोग्य और इन्द्रियभोगों का भी गहरा संबंध है। योग और तंत्र से संबंधित प्रत्येक शास्त्र कहता है कि योगी उत्तम आरोग्य को प्राप्त करता है, क्यों? बात बहुत सरल और स्पष्ट है। यहाँ न कोई चमत्कार की बात है न कुछ अतिशयोक्ति है। योगी अथवा ध्यानी पुरुष की इन्द्रियाँ अंतर्मुखी हो जाती हैं। साधारण मनुष्य इन्द्रियों के द्वारा लगातार कुछ बाहर फैंकता रहता है। ऊर्जा का व्यय करता रहता है। साधारण मनुष्य को इतना होश नहीं है कि आंख से क्या देखना और क्या नहीं देखना? कान से क्या सुनना और क्या नहीं सुनना? वाणी से कितना बोलना और कितना नहीं बोलना? हाथ पैर कहाँ चलाना और कहाँ स्थिर रखना? संभोग कब करना और कब नहीं करना? वह तो शरीर की आवश्यकता नहीं होने पर भी अपने उपकरणों को क्षीण करता रहता है। रोग का अर्थ क्या है? जीवनदायक ऊर्जा का क्षीण हो जाना, ऐसा होने से रोगों का प्रतिकार करना की क्षमता कम हो जाना और शरीर का बीमार हो जाना।

साधक, योगी अथवा ध्यानी मनुष्य अपनी ऊर्जा का दुरुपयोग नहीं करता। अजाग्रति में उसका व्यय नहीं होने देता। वह जरूरत से ज्यादा देखना नहीं, जरूरत से ज्यादा सुनना नहीं, जरूरत से ज्यादा बोलना नहीं, जरूरत से ज्यादा अन्य क्रियाएं नहीं करना। निरर्थक

विषयों पर सोचना नहीं और अतीत या भविष्य की ज्यादा चिंता नहीं करना। जिसकी वजह से उसकी ऊर्जा बचती है। चित्त प्रसन्न रहता है। शांति बनी रहती है और उसकी वजह से उसका स्वास्थ्य भी बना रहता है। ध्यानी पुरुष आम आदमी की तरह बीमार नहीं पड़ता और अगर बीमार पड़े भी तो वह शारीरिक बिमारी होती है; वह मन से बीमारीग्रस्त नहीं होता।

प्रिय साधको!

अनाहतनाद श्रवण की अवस्था कई ध्यान विधियों के द्वारा उत्पन्न होती है। कुछ लोग प्रणव ध्वनि के पश्चात गहन मौन में यह स्थिति घटित होती है ऐसा कहते हैं परंतु शिव शिवपुराण की पांचवी उमा संहिता नामक विभाग में २६वें अध्याय में स्पष्ट कहते हैं कि -

“न चोङ्कारो न मन्त्रोऽपि.....”

अर्थात् इस विधि में न ओंकार, न मंत्र तथा न बीजाक्षर का प्रयोग है। हे प्रिया! यह अनाहत शब्द ब्रह्म परम कल्याणकारी तथा उच्चारण में न आने वाला है। मैं प्राणविदों से जाने हुए नौ शब्दों को नादसिद्धि क्रम से कहता हूँ। वे अनुक्रम से घोष, कांस्य, शृंग, घंटा, वीणा, बांसुरी, दुंदुभी, शंख और मेघ गर्जन हैं।

प्रिय साधको!

प्रेम और समर्पण दो चीजें ऐसी हैं कि उन क्षणों में मनुष्य सबकुछ दे देता है। उन क्षणों में कुछ भी गोपनीय नहीं रहता, उन क्षणों से मूल्यवान कुछ भी नहीं होता। यहाँ देवी पार्वती समर्पित शिष्या की भांति बैठी हैं और शिव से ज्ञान प्राप्त करना चाहती हैं। यहाँ शिव की देशना के दौरान पार्वती उनकी अर्धांगिनी और सहवासिनी होने पर भी कही भी ऐसा नहीं जता रही हैं। उनके प्रश्न और जिज्ञासा एक समर्पित शिष्या की भांति हैं। और ऐसे अभिजात्य से उसने शिव का पूर्णप्रेम संपादन

किया है। उस प्रेम के कारण शिव भी पति भाव से तो बहुत ऊपर उठ जाते हैं। वह एक प्रेमपूर्ण गुरु बनकर पार्वती को गुप्त साधना पद्धति बता रहे हैं। ऐसी आध्यात्मिक घनिष्ठता सांसारिक स्तर पर लगभग असंभव है। नर-नारी के भेद से ऊपर उठने के बाद ही ऐसा आदान-प्रदान घटित हो सकता है। संक्षेप में ज्ञानप्राप्ति के लिए गुरु शिष्य का एक दूसरे का गहन प्रेम में होना अनिवार्य है। जिसे आध्यात्मिक प्रेम कह सकते हैं। और इस प्रेम के सामने अन्य सब प्रकार के प्रेम फीके हैं।

शिव कहते हैं कि प्राणविदों के द्वारा लक्षित और उच्चारण में न आने वाले ऐसे नौ शब्दों को नादसिद्धि क्रम से कहता हूँ।

प्रिय साधको!

बात जरा ध्यान देने योग्य है। ...“प्राणविदों के द्वारा लक्षित...” अर्थात् ये नौ शब्द साधारण मनुष्य के अनुभव में नहीं आते। यहाँ “लक्षित” शब्द का प्रयोग किया है। लक्षित संस्कृत शब्द है। लक्षित का अर्थ है लक्ष्य में आया हुआ, ध्यान में आया। अथवा इशारा किया हुआ। दृष्टि में आया हुआ क्योंकि ये शब्द इन्द्रिय जगत के परे के हैं। और उच्चारण में न आने वाले हैं। जिसका उच्चारण हो सकता है वह सुनाई भी देता है, परंतु अनुच्चरित शब्द केवल देखे जाते हैं। वह देखने की आंख भीतर होती है। उसे देखने की विधि है – ध्यान। और ध्यान में आने के बाद उसके प्रति मात्र इशारा हो सकता है। वह इशारा अन्य साधना पिपासुओं को समझाने में अथवा उसके प्रति लक्ष्य देने में आसान बने इसलिए भी कुछ शब्दों का आधार लेना पड़ता है। शिव ने भी शब्दों का आधार लिया है। फिर भी चेताते हैं कि वे शब्द उच्चारण में आने वाले नहीं हैं। चेताना इसलिए है कि लोग स्थूल, स्वर और शब्द को ग्रहण करके भ्रमित न हो जाएं। शिव एक दूसरे सुंदर शब्द का प्रयोग करते हैं, “प्राणविद”। यह एक अद्भुत शब्द है। आत्यंतिक शब्द है।

शास्त्रविद्, संगीतविद्, नृत्यविद् इत्यादि बनना आसान है परंतु प्राणविद् बनने का अर्थ है प्राणरूप बन जाना। बाहरी जगत से बिलकुल ऊपर उठ जाना। प्राण के संदर्भ में कुछ भी जानने का अर्थ है प्राणों की गति, प्राणों का स्थान, प्राणों के स्वरूप, प्राणों का असर और प्राणों के प्रकारों को अनुभव कर लेना। प्राणरूप हुए बिना, ऐसा कैसे संभव है?

मैं कहती हूँ कि प्रत्येक ध्यानी प्राणविद् बन सकता है। ध्यानी प्राणविद् बन सकता है। ध्यान इतनी सूक्ष्मता और गहराई तक पहुंचाने का माहोल बनाता है। साधक जब अपनी समग्र ऊर्जा और वृत्ति को प्राण की ओर मोड़कर अंतर्मुखी कर देता है तब प्राण उसका सहयोग करने लगता है। और फिर वह प्राणों की भांति साक्षी बन जाता है। अर्थात् प्राण कभी किसी दैहिक ढांचे से आसक्ति नहीं बांधता। वह अपना समय पूरा होते ही विदा हो जाता है। वैसे ही प्राणविद् प्राणों के आवागमन का साक्षी बनकर जन्म-मृत्यु से मुक्त हो जाता है।

प्राणविदों के द्वारा अनुभवित और संकेतिक नौ शब्दों को प्राप्त करने की सिद्धि को नादसिद्धि क्रम कहा है।

मेरा अनुभव है कि वह अ-क्रम रूप से भी लक्षित हो सकता है। अर्थात् साधक की साधना की तीव्रता और क्षमता के अनुसार संभव है कि प्रथम नाद की जगह सीधा चतुर्थ या पंचम नाद का भी अनुभव करे। अगर ऐसा है तो पीछे मुड़कर देखने की या चिंतित होने की जरूरत नहीं है। पहली कक्षा के बदले अगर किसीको सीधा पांचवी कक्षा में प्रवेश मिल गया इसका अर्थ ही है कि साधक की विशेष योग्यता है। आपका लक्ष्य मुंबई है और बोरीवली छूट गया तो चिंता मत करना। साधना की तीव्र गति में ऐसा हो सकता है। इसी तरह प्रथम नाद घोष है परंतु आपको ध्यान में बैठकर सीधा घंटा या दुंदुभीनाद का दर्शन हुआ तो फिर पहले नाद के लिए व्याकुल मत होना। ये कोई गिनती करके

चीजें इकट्ठी करने का विषय नहीं है। यह तो आनंदित होने की घटना है, संसार से ऊपर उठने की घटना है, इन्द्रियों के पार के विश्व का आनंद है।

और शायद इसीलिय शिव ने कहा है कि घोष, कांस्य..... इत्यादि नौ शब्द हैं। परंतु नौ को छोड़कर केवल तूंकार का अभ्यास करो।

शिव ने ऐसा इसलिए कहा है कि सभी नाद में से सार रूप उत्पन्न ध्वनि है “तू” कार। गुरुनानक से लेकर कई सूफी, संत, औलिया और महात्मा “तू ही तू”, “तू ही तू” रटा करते थे। “तू ही तू” का उपदेश करते थे। उनका तात्पर्य था किसी अज्ञात के प्रति इशारा करना, “मैं” के विसर्जन की घोषणा करके भक्त में “मैं” से मुक्ति का बोध जगाना। वह तूं कार ही परब्रह्म की प्राणशक्ति का परम उच्चारण है। जो भीतर सूक्ष्म रूप से हुआ करता है। इसलिए इसे अनाहत नाद कहा है, बिना किसी चोट पहुंचे या आयास प्रयास किए वह चौबीस घंटों सहज ही उच्चारित होता रहता है। और याद रहे यह दस प्रकार के अनाहत नाद केवल योगियों में या ध्यानियों में ही उत्पन्न होते हैं ऐसा नहीं। वह प्रत्येक व्यक्ति में होता है। परंतु प्राणविद उसका अमुभव कर सकते हैं। क्योंकि प्राणविदों ने उसके प्रति लक्ष दिया; आप लक्ष्य नहीं देते हैं।

शिव कहते हैं कि प्राणविदों के जाने हुए नौ नादों में यत्नपूर्वक नादसिद्धि क्रम से प्रवेश करो।

प्यारे भक्तो!

यत्न और प्रयत्न दोनों शब्द संस्कृत के हैं। फिर भी प्रयत्न शब्द थोड़ा स्थूल है। उसका लौकिक संदर्भ में उपयोग होता है। और यत्न शब्द आध्यात्मिक है। आध्यात्मिक विश्व में स्थिर होने के लिए जो भी प्रयत्न, प्रयास और अभ्यास है वह है यत्न। वैसे दोनों शब्दों में शाब्दिक अर्थ में कोई खास फर्क नहीं है फिर भी करीब करीब सभी ज्ञानियों ने, गुरुओं ने, खोजियों ने कुछ विशेष विधि विधान में सफलता प्राप्त करने

के लिए विशेष यत्न करने को चेताया है। प्रयत्न शारीरिक और बौद्धिक हो सकते हैं, प्रयत्न के पीछे स्वार्थ का हेतु हो सकता है परंतु यत्न में प्राण फूँके जाते हैं। वह अस्तित्वगत रूप से होता है। यत्न में साधक अपनी आंतरिक शक्तियों को प्रवृत्त करता है। यत्न में शक्तियाँ खर्च होने पर भी विकसित होती जाती हैं। जिसे विद्या कहा है।

शिव कहते हैं कि वह घोष, कांस्य, शृंगी, घंटा, वीणा, वंशी, दुंदुभी, शंख और मेघ से उत्पन्न नाद से शब्द जैसे हैं। परंतु याद रहे, यहाँ स्थूल ध्वनि बिलकुल नहीं समझना। यहाँ जो नौ प्रकार के नाद नामकरण किए हैं वह तो शिव ने केवल अपनी नादानुभूति को व्यक्त करने के लिए आधार अथवा प्रतीक के रूप में लिये हैं। उन्हें विविध प्रकार की उपमा समझ लीजिए। वैसे साहसी पराक्रमी और निडर मनुष्य को हम नरकेसरी कहते हैं। इसका अर्थ सिंह की आकृति वाला मनुष्य नहीं करना है परंतु सिंह जैसा निर्भय मनुष्य, ऐसा समझना है। वैसे ही यहाँ नौ प्रकार के नाद को उसके स्थूल रूप में सुनने अथवा जानने का प्रयास तो भ्रम अथवा मूर्खता सिद्ध हो सकता है। क्योंकि आपने जो शंख, बांसुरी या शृंगी की आवाज सुनी है वह तो कान से सुनी है और अंतर में उत्पन्न होने वाला अनाहत नाद तो केवल ध्यान के द्वारा प्राप्त हो सकता है। और इसीलिए आगे के वचन में शिव साधकों को चेताते हैं कि इन नौ शब्दों का त्याग करके उन सबमें से ध्वनित केवल तूँकार का सम्यक अभ्यास करें।

प्रिय साधको!

प्रत्येक प्रबुद्ध गुरु की एक विशिष्टता होती है। वे प्रारंभ में साधक को विधि सिखाने के लिए कुछ व्याख्याएं, कुछ चिंतन, कुछ धारणाएं देते हैं और फिर उन सबके पार ले जाकर साधक को स्वानुभव के लिए प्रेरित करके छोड़ देते हैं। ताकि शिष्य अथवा साधक का मन गुरु

के शब्दों से न भर जाए अथवा शब्दों एवं बनी बनाई व्याख्याओं को न पकड़ ले परंतु सम्यक अभ्यास से सत्य तक पहुंच जाए।

उपदेश कर्ता जब सजग होता है तभी वह साधक के अंतर में सत्य बोध जागने की संभावना है। मैं कहती हूँ कि ये सारी ध्यान विधियाँ और उन विधियों को बताने का ढंग केवल खोजियों के लिये ही नहीं परंतु गुरुओं के लिए भी कुछ हद तक मार्गदर्शक है। मेरी दृष्टि से जो जागा हुआ है वह है गुरु और जो जागने के लिए ज्ञान के विश्व में प्रवेश करना चाहता है, वह है शिष्य। आप कहेंगे कि जागे हुए को मार्गदर्शन की क्या जरूरत? – मैं कहती हूँ कि अभिव्यक्ति के लिए, देशना के लिए, अन्य को उचित शब्दों में मार्गदर्शन मिले इसलिए। जरूरी नहीं कि प्रत्येक जागे हुए के पास अभिव्यक्ति की क्षमता हो। और यह भी जरूरी नहीं कि जागने को आया हुआ प्रत्येक साधक जागे हुए गुरु की कृपादृष्टि या तरंगमात्र से जाग जाए।

प्रिय साधको!

कभी कभी अनपढ़ और ज्ञानाभिव्यक्ति के लिए अक्षम गुरु से भी श्रद्धावान और शुद्धचित्त साधक को बिना किसी लंबे विधि विधान, सत्संग या शास्त्रों के उपदेश के बिना भी सीधी मदद मिल जाती है। उदाहरण के लिए हम रामकृष्ण परमहंस और विवेकानंद को ले सकते हैं। परंतु हर शिष्य के पास विवेकानंद जैसा हृदय नहीं होता। कुछ शिष्य पहले बौद्धिक स्तर पर फिर मनोवैज्ञानिक स्तर पर और फिर आंतरिक स्तर पर प्रभावित होते हैं। अगर गुरु आध्यात्मिक सजगता उपरांत कुछ आवश्यक शास्त्र और साधना पद्धति के लिए आध्यात्मिक विधि-विधान अगर व्यवस्थित भाषा में बता सकते हैं तो बौद्धिक स्तर पर प्रभावित होने वाले साधक जागने की विधियों में विशेष रूप से रस लेने लगते हैं।

जैसे कि कबीर। वे भले अनपढ़ थे फिर भी उनकी बातों में वेद भरा है। कबीर की वाणी यौगिक शब्दावली से भरपूर है। साखी, सबद, रमैनी, बीजक या उलटबांसियाँ.. कुछ भी बोलो, कबीर की अभिव्यक्ति की क्षमता बेजोड़ है। वे खुद कहते हैं कि “मसी-कागद छुयो नहीं, कलम गही नहीं हाथ....” बात तो सत्य है। उन्होंने कभी शास्त्र पढ़े नहीं थे क्योंकि अक्षरज्ञान ही नहीं था। तो उनकी वाणी में इतनी सारी सचोट शब्दावली कैसे आई? एक अनपढ़ साधक साधना करते करते भले सत्य को पा ले, एक योगी की अवस्था को प्राप्त कर ले, भले जाग जाए, परंतु जागने तक की यात्रा में जो जो घटित होता है, जो प्राणों में, नाड़ियों में, अंतर में घटित होता है उन सबको पारीभाषिक शब्दावली में व्यक्ति कैसे कर पाएगा? हाँ, केवल अनुभव करके चुप हो जाना है तो बात अलग है। परंतु शून्य में चले जाने के बाद भी संसार के हित में जिज्ञासु को उपदेश करके जगाते हैं तो वहाँ अनिवार्य रूप से भाषा का प्रयोग करना पड़ता है। तब ऐसा योगी क्या करे? अक्षर को जान लेने के बाद भी अक्षरज्ञान ही न हो और शब्दों के पार चले जाने पर भी शब्दों के गरज़ी कबीर जैसे सुलझे हुए सिद्ध पुरुष क्या करें? जिन्होंने अपने भीतर सबकुछ जान लिया और ऐसा अंतरविश्व का दर्शन अन्य लोग भी करें परंतु वे लोग केवल शब्दों की भाषा ही जानते हैं, जो शास्त्र पढ़कर आए हैं। परंतु उसके रहस्य समझते नहीं हैं। ऐसे लोगों को शास्त्रीय शब्दों के द्वारा ही शब्दों और शास्त्रों के पार पहुँचाया जा सकता है। मेरा एक अंदाज है कि ऐसे लोगों के लिए कबीर, नानक और महंमद जैसे गुरुओं ने सिद्ध होने के बावजूद भी बहुत सत्संग किया होगा। अन्य सिद्धों के संग में बहुत सारा समय बिताया होगा। अपनी समान अनुभूतियों की बातों को मुक्त हृदय से बांटा होगा। दो जाए हुए गुरुओं के बीच में साक्षरता और निरक्षरता का भेद मिट गया होगा। और साक्षर ज्ञानियों के

पास से निरक्षर ज्ञानियों ने अपनी आंतरिक अनुभूतियों को योग की भाषा में, वेद की भाषा में, सतशास्त्र की भाषा में क्या कहते हैं? वह समझा होगा। उन शास्त्रीय शब्दों को स्मरण में रखकर अपने समान अनुभव के लिये खूब आनंदित हुए होंगे। वे उन शब्दों को जानकर फिर उसकी अनुभूति तक पहुंचने के लिए साधना करने वालों में से नहीं थे। परंतु वे अनुभव लेने के बाद फिर उस अनुभव के बारे में शास्त्र जो शब्द प्रयोग करते थे उसे जानने वालों में से थे। जैसे कि प्रेम – प्रेम में ऐसा ही होता है। पहले प्रेम हो जाता है फिर धीरे धीरे प्रेमी-प्रेमिका का नाम, पता, जाति-पांति जानते हैं। वह सब एक बाहरी व्यवस्था के लिए है। मूल में तो प्रेम है। वैसे ही मूल में अनुभूति है, बाद में शब्दावली है।

कबीर की वाणी में आप स्पष्ट रूप से अनुभूति की गहराई को देख सकते हैं। और शास्त्रीय शब्दों का अपभ्रंश होते हुए भी क्यों? क्योंकि अक्षरज्ञान के अभाव में शास्त्राध्ययन का अभाव तो कैसे बोलेंगे स्पष्ट शब्द? फिर भी अन्य जागे हुए योगियों से घनिष्ठ संग से उन्हें पता चल गया कि मेरे पास आने वाले को मेरे आध्यात्मिक परमाणु, माहोल और सानिध्य के उपरांत अगर कुछ शब्द भी दिए जाएं तो जिज्ञासु विशेष रूप से प्रेरित हो सकता है। इसलिए कबीर ने उस वक्त के नाथ, सिद्ध और हठयोगियों से प्रभावित समाज को आध्यात्मिक रूप से जगाने के लिए भले अपभ्रंश परंतु चोटदार और अनुभूतियों में मंझकर आये हुए यौगिक शब्दों का प्रयोग किया। लोग ऐसी अपेक्षा करते हैं कि एक सजग गुरु से लोगों की हर अपेक्षा तो पूरी नहीं हो सकती परंतु जो अपेक्षाएं कल्याणकारी हो ऐसी अपेक्षा गुरु के द्वार पूरी होनी चाहिए। महावीर और गौतम बुद्ध को आत्मसिद्धि के बाद बोलने की और उपदेश देने की कोई आवश्यकता नहीं लगती थी परंतु कुछ साधकों की अपेक्षा थी कि उनके बोलने से मुमुक्षुओं को मदद मिल सकती है। उनका

बोलना कल्याणकारी है। उनका बोलना परमार्थिक है। तब उन्होंने बोलना आरंभ किया।

खैर! मेरा कहने का हेतु यह है कि शिव जैसे गुरुओं की वाणी केवल आध्यात्मिक शिष्यों के लिए ही नहीं परंतु अन्य गुरुओं के लिए भी उपयोगी है। क्योंकि उनकी वाणी में उचित शब्दों का प्रयोग है। जो साधक को रूपांतरित करने में मदद करते हैं। शिव कहते हैं कि नौ प्रकार के अंतर्नाद में से उत्पन्न होने वाली एक सहज-स्वाभाविक साधारण ध्वनि “तू” है। उस तुङ्गार का सम्यक रूप से अभ्यास करने वाला योगी पाप और पुण्य से लिप्त नहीं होता।

तो एक बात स्पष्ट हो गई कि अनुक्रम से या अ-क्रम विधि से परंतु नादसिद्धि में प्रवेश करने वाले साधक को सूचित ध्वनियों को न पकड़कर उन सबमें से उत्पन्न एक सर्वसामान्य ध्वनि “तू”कार पर ही ध्यान करके वहाँ चेतना को केन्द्रित करती है।

तुङ्गार ध्वनि का सम्यक अभ्यास करने का परिणाम बताती हुई विधि कहती है कि – इस तुङ्गार का सम्यक अभ्यास करने वाला योगी पाप और पुण्य से लिप्त नहीं होता।

प्रिय साधको!

पाप और पुण्य से हमेशा हमेशा के लिए अलिप्त हो जाने में ही सच्चा योगित्व है, अथवा वही परमसिद्धि है। क्यों? क्योंकि पाप और पुण्य दोनों के पार जाना बहुत कठिन है। पुण्य पाप का विपरीत बिन्दु है। लोग दोनों के पार नहीं जाते हैं। परंतु एक छोर से दूसरे छोर पर पहुँचते हैं। दोनों के बीच में कुछ करने का सूत्र स्वाभाविक है। दोनों एक ही धागे के दो छोर हैं। मनुष्य का कुछ न कुछ करते रहने के भाव में से ही पाप कर्म और पुण्य कर्म जन्म लेते हैं। ज्ञान है भावातीत अवस्था। जब तक पाप का अस्तित्व है तब ही पुण्य की महिमा है। जब विश्व में से पाप

मिट जाएंगे तब पुण्य कर्मों में कोई विशेष फर्क नहीं रहेगा या न पुण्यवानों की वाह! वाह! होगी। पुण्य पाप पर टिका है। लोग पाप से डरकर पुण्य करते रहें या पापों को धोने के लिए पुण्य करते हैं। अथवा विशेष पुण्य कमाने की लालच में पुण्य करते हैं। विशेष धन और सुख को प्राप्त करने के लिए पुण्य करते हैं। संतानों के सुख और पद-प्रतिष्ठा की कामय रक्षा हो इसलिए पुण्य करते हैं। पुण्य के पीछे कोई न कोई लालच छिपी है। पुण्य के पीछे ज्यादातर लोगों का अहंपुष्ट होता है। कभी कभी पुण्यवान लोग पापी को विशेष पापी होने का अहसास कराते रहते हैं। पुण्य कर्म उत्तम और नीच का भेद खड़ा कर देते हैं। मेरे कहने का हेतु ये नहीं है कि पुण्य कर्म न करो; परंतु लालच सबसे बड़ा पाप है। पुण्य के पल्लू में लालच छिपी हुई है, तो ऐसा पुण्य पुण्य नहीं है। पुण्य कभी कभी पाप का परवाना देते हैं। शास्त्रों ने पुण्य कर्म करने का आदेश दिया। इसका अर्थ लोगों ने गलत लगा लिया कि पुण्य से पाप नष्ट होता है। मतलब पाप करलो फिर पुण्य कर्म करके प्रायश्चित्त हो जाएगा। कभी कभी पुण्य करने वाले पुण्य नहीं करने वालों के मन को अपराधभाव से भर देते हैं। क्योंकि पुण्य-पाप -अपुण्य ये सब साधारण अवस्था के मनुष्य के लिए हैं। ज्ञानी के लिए नहीं।

हमारे शास्त्रों में पुण्यकर्मों की बहुत प्रशंसा की गई है। पुण्य कर्म की महिमा गाई है। परंतु ये सब साधारण लोगों के लिए ही है। मूल में यात्रा यूँ है कि पाप से पुण्य कर्म की ओर, और फिर दोनों के पार। ज्ञानी मनुष्य पाप और पुण्य किसी में भी लिप्त नहीं होता।

एक संत था; भक्तों ने उससे पूछा कि अन्य संत तो पुण्य कर्म करने का उपदेश देते हैं, वे लोग पुण्य कर्म करते भी हैं। आप ऐसा क्यों नहीं करते। तब संत ने कहा कि मैं पाप से ऊपर उठ जाने को कहता हूँ। पापशून्य हो जाओ। फिर पुण्यकर्म विशेष नहीं रहेगा। वह आपके लिए

सहज हो जाएगा। पुण्य करने का इरादा और प्रयास करने की जरूरत नहीं रहेगी। पुण्य करने की जबतक इच्छा बनी रहती है तब तक पुण्य भी बंधन है। वह भी एक वासना है। वह एक सात्विक वासना है। वह पूरी नहीं होती है तो आदमी को परेशान करती रहती है।

मैं कहती हूँ कि पुण्य कर्म को वासना मत बनाओ। इच्छा मत बनाओ। पुण्य आंतरिक शुद्धिकरण का परिणाम होना चाहिए। वह सहज कर्म होना चाहिए। जब उसे पाने की या पुण्यकर्म करने की चाह मिट जाती है तब वह भगवद्ता की अवस्था में पहुँच जाता है। और भगवद्ता की अवस्था में पाप पाप नहीं रहता। आपने महाभारत, शिवपुराण, भागवत आदि को सुना हो या पढ़ा हो तो याद होगा कि शिव, ब्रह्मादि कई बार झूठ बोले हैं। विष्णु ने कुछ ऐसे कार्य किये हैं जिसे दुनिया घोर पाप कहती है। शास्त्र भी घोर पाप कहते हैं। फिर भी दुनिया उन महापुरुषों को पापी नहीं समझती। मनुष्य जब भगवद्ता से पूर्ण हो जाता है तब वह पाप और पुण्य से लिप्त नहीं होता।

ऐसी आत्माओं को शास्त्र पुण्यश्लोक कहते हैं। पुण्यात्मा कहते हैं। पुण्यात्मा का अर्थ है, जिसका स्वभाव ही पुण्य है। ऐसी आत्मा के लिए फिर पुण्य कोई विशेष क्रिया नहीं रहता। और पाप पाप नहीं रहता। उसकी विशुद्धि पाप को पाप नहीं रहने देती और पुण्य कर्म की उसे गरज़ नहीं रहती। क्योंकि पुण्यात्मा हर प्रकार के लोभ से ऊपर उठ जाती है।

संतो ने कहा है कि “लोभ पाप का मूल।” मनुष्य लोभ के वश होकर पाप करते हैं और स्वर्ग और पुण्य कर्मों की लालच से अच्छे कार्य करते हैं परंतु पाप और पुण्य दोनों का मूल तो एक ही रहता है।

एक संत को किसीने पूछा कि आप पुण्य कर्म क्यों नहीं करते? आपको पता नहीं कि पुण्य करने से सुख और स्वर्ग की प्राप्ति होती है?

संत ने कहा कि भोग भुगतने का भाव अब रहा नहीं। मैं जहाँ हूँ, वहाँ से ज्यादा सुख और कोई अवस्था में हो नहीं सकता। और स्वर्ग मुझे चाहिए नहीं। स्वर्ग में अप्सराएं होती हैं, ऐसा सुना है परंतु वह सुख तो आदमी धरती पर भी पा सकता है। और वह सुनी हुई बात भी नहीं, परम सत्य है। स्वर्ग में आयु लंबी होती है परंतु मेरे लिए अब लंबी और छोटी आयु का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि मैं मृत्यु से निर्भय होकर उसके पार चला गया हूँ। लोग कहते हैं कि स्वर्ग में संकल्प मात्र से सुख की प्राप्ति होती है। परंतु मैं संकल्प-विकल्प का साक्षी बन गया हूँ और उसके फल का भी साक्षी हूँ। अब आप ही कहो कि पुण्य कर्म करके अगर सत्कर्म का फल इकट्ठा होता है तो उसके भुगतने का बंधन नहीं होगा? मैं ऐसे बंधन में क्यों पड़ूँ? इसलिए अब स्वर्ग और नर्क, पाप और पुण्य दोनों से मैं अलिप्त हूँ।

शिव कहते हैं तुझ्कार नाद का सदा ध्यान करने वाला योगी पाप और पुण्य से लिप्त नहीं होता। बात समझने जैसे है। जहाँ “मैं” होता है वहाँ पाप पुण्य अथवा कर्ताभाव बचा है। जहाँ सिर्फ “तू ही तू” है वहाँ क्या पाप क्या पुण्य? वहाँ तो दोनों गिर जाते हैं।

शिव का एक दूसरा निवेदन भी महत्वपूर्ण है। वे कहते हैं कि हे देवी! जब योगाभ्यास में तत्पर मनुष्य इस नाद को सुनने का प्रयत्न करने पर भी अगर नहीं सुन पाता है तो मृत्यु के समीप आने पर भी अभ्यासरत योगी रात-दिन इसी प्रकार स्थित हो।

प्रिय साधको!

शिव ने ऐसा क्यों कहा? ऐसा कहने में कारण है। पहली बात तो यह कि साधक अच्छी तरह समझ ले कि यह विधि आसान नहीं है, दूसरी बात यह कि वह लंबे समय तक निरंतर अंतर्नाद को सुनने के अभ्यास में प्रवृत्त रहने की तैयारी कर ले। तीसरी बात, कि धैर्य न गंवाए

और चौथी बात – अगर मृत्यु भी आ जाए तो भी साधक अगर इस अभ्यास को न छोड़े तो स्वभाविक है कि मृत्यु के क्षण उसकी सारी ऊर्जा और इन्द्रियों की शक्तियाँ अंतर्मुखी होने में लगी होंगी। मन का भटकना बंद होगा। मन का भटकना बंद होने से वासनाक्षीण अवस्था की मौजूदगी होगी और ऐसे क्षण में अगर मृत्यु हुई तो मरना भी सार्थक हो जाएगा। ऐसे क्षण में चेतना देहासक्ति से मुक्त होने के कारण शरीर छूटने में भी मनोवेदना से मुक्त रहता है। जिससे पीड़ामुक्त रहकर शरीर छूटता है और संपूर्ण चेतना अंतर्नाद पर ध्यानस्थ होने के कारण और साधक का “तूँकार” की अनुभूति का एकमात्र लक्ष होने की वजह से दूसरे जन्म में थोड़ा सा यत्न करने की अंतर्नाद का धनी बन सकता है।

शिव कहते हैं कि समग्रता के साथ जो साधक मृत्यु निकट आने तक इस अभ्यास को करता रहता है तो उसे सात दिन में मृत्यु को जीतने वाला शब्द सुनाई देता है।

प्रिय साधको!

शिव एक निवेदन के बाद शीघ्र ही दूसरा निवेदन देकर साधक को विश्वास देते हुए कहना चाहते हैं कि मनुष्य मरते दम तक जो चाहता है वही उसको प्राप्त होता है। यहाँ सात दिन की अवधि बताई गई है। आध्यात्मिक अनुष्ठान में सप्ताह का विशेष महत्व है। ऐसा क्यों? निरंतरता और निष्ठा से की हुई साधना मनुष्य के रसायनों को बदलने लगती है। मनुष्य के पास सबसे ज्यादा स्थूल चीज अगर कोई है तो वह है शरीर। मैंने अनुभव किया है कि साधना की तीव्रता अंत में स्थूल को रूपांतरित करती है। आपके पास जो कुछ भी स्थूल है वह आपका नहीं है। वह आपको माता-पिता के द्वारा मिला है। और स्थूल में अर्थात् रक्तादि में जो कमजोरियाँ हैं वह जीन्स में कई पीढ़ियों में से कहीं से भी उतरी हैं। परंतु तीव्र साधना मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार को शून्य करते करते अंत में

स्थूल को रूपांतरित कर देती है। और सात दिन में सात धातुओं को शुद्ध कर सकती है। यह अतिशीघ्र प्रक्रिया है। ऐसा होना प्रत्येक साधक में संभव नहीं है। परंतु साधना को पूर्ण रूप से समर्पित और सत्यानुभव के लिए साधनाग्नि में निरंतर कुछ न कुछ भस्मिभूत करता हुआ तथा रूपांतरित होते होते जिसका चित्त शुद्ध कुंदन जैसा बन जाता है। उसकी धातुएं शीघ्र गति से रूपांतरित होती हैं और सात ही दिन में एक के बाद एक धातु अनुक्रम से रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र तक के संस्कार शून्य होकर साधक स्थूल रूप से भी परिशुद्ध हो जाता है। इसका मतलब यह नहीं कि रक्त, मांस, मेद मिट जाएंगे, परंतु उसमें पड़े हुए और अन्य के द्वारा प्राप्त हुए सारे संस्कार जो मुक्ति के मार्ग में बाधारूप थे वे सब मिट जाएंगे। यह प्रक्रिया अत्यंत सूक्ष्म प्रक्रिया है। जिसे आधुनिक विज्ञान भी नहीं पकड़ पाता। उसे केवल ध्यान के विज्ञान के द्वारा ही समझा जा सकता है।

प्रिय साधको!

ऐसा हो सकता है कि कभी कभी धैर्य के अभाव में साधक जीवन के अंतिम दिनों में निराश होकर विधि को छोड़ दे और वही दिन रूपांतरण के हो सकते हैं। उन दिनों में ही घटना घटित होने वाली थी। परंतु साधक ने विचलित होकर सारे आध्यात्मिक पुरुषार्थ को निरर्थक कर दिया। किनारा दो कदम दूर था और मुसाफिर ने कश्ती को छोड़ दिया। अध्यात्म मार्ग में किनारा कितना दूर है? ये कभी दिखाई नहीं देता। साधक अचानक किनारे को पा लेता है। कश्ती स्वयं ही छूट जाती है। फिर कोई विधि-विधान या मार्ग की आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि मंजिल आ गई। मोड़ इतना गहरा था कि थोड़ी दूर से भी नहीं दिखाई दे रहा था। मोड़ कठिन लग रहा था। आप कभी मसूरी गए हो? या पहली बार हिल (पर्वत) चढ़ रहे हो तो पता चला होगा कि कितना कठिन था

ऊपर तक पहुंचना। दिल्ली से देहरादून जितना दूर नहीं लगा था उतना देहरादून से मसूरी दूर लगा, क्यों? क्योंकि मोड़ अति कठिन था। ऐसे ही अध्यात्म की अंतिम ऊंचाई तक पहुंचते पहुंचते शरीर के संस्कारों के मोड़ पर कभी कभी साधक विचलित हो सकता है। निरुत्साह होकर साधना छोड़ सकता है अथवा निराशा गाढ़ बनती जाती है तब विधि पर या स्वयं की क्षमता पर संशय करने लगता है।

लेकिन याद रहे! सूर्योदय से पहले का अंधकार गाढ़ होता है। इसका मतलब ये मत कर लेना कि अब अंधकार ही बढ़ता जाएगा और सूर्य नहीं निकलेगा।

शिव कहते हैं कि हे देवी! अब मैं आपको वह नव विधियाँ यथार्थ रूप से कहता हूँ।

प्रिय साधको!

विधि के कई अर्थ होते हैं। अनुष्ठान, अभ्यास, कर्म, रिति, पद्धति, ढंग, वेदाज्ञा इत्यादि।

विधि का एक अर्थ दैव भी है। बेशक! यहाँ अर्थ अलग है परंतु मैं कहूँगी कि साधक अपना भग्याविधाता खुद है, स्वयं भगवान है। अपने दैव को आप ही निर्माण कर सकते हैं। आवश्यकता है निष्ठा, श्रद्धा, दृढ़ अनुष्ठान, एकाग्रता और उचित ढंग की।

शिव यहाँ नौ नाद के लिए “नव विधि” शब्द का प्रयोग करते हैं। ऐसा क्यों? क्योंकि प्रत्येक नाद तक पहुंचने के लिए कठिन अनुष्ठान, गहन अभ्यास, सम्यक पुरुषार्थ और उचित पद्धति से गुजरना अनिवार्य है। वैसे तो नवों प्रकार के नाद अंतर्नाद संबंधी ध्यान-विधि में ही आते हैं। फिर भी अलग अलग बताया गया है।

शिव कहते हैं कि योगी के भीतर विशेष ध्यान विधि के द्वारा ये विविध नदन प्रक्रिया का अनुभव होता है। और प्रत्येक का परिणाम

अलग है।

सामान्य रूप से साधक इस ध्यान विधि के द्वारा घोष नाद का अनुभव करता है। जो परम शुद्धिकारी और सब प्रकार के दुःखों को हरने वाला तथा वशीकरण एवं आकर्षणकारी उत्तमनाद है।

प्रिय साधको!

इस प्रथमनाद के प्रभाव को ज़रा ध्यान से समझ लें। शिव कहते हैं कि घोष नाद परमशुद्धिकारक, सर्वव्याधिहर और वशीकरण तथा आकर्षणकारी उत्तमनाद है।

प्रिय साधको!

इसे उत्तम इसलिए कहा है कि यह नाद अन्य नादानुभूति के लिए द्वार खोल देता है। एक बार यात्रा के लिए हौसला भी बढ़ाता है और यात्रा आसान भी बन जाती है। यह नाद मनुष्य के अंतःकरण का शुद्धिकरण करता है। शिव कहते हैं कि दुःखों को हरने वाला है।

प्यारे साधको!

शुद्धिकरण और पीड़ामुक्ति का गहरा संबंध है। शरीर अशुद्ध होता है तो देह रोगग्रस्त होकर पीड़ित होने लगता है। और अगर अंतःकरण अशुद्ध है तो मन पीड़ित होता रहता है। यहाँ शिव देवी पार्वती के सामने, अपनी प्रेमिका एवं सफल जीवन संगिनी के सामने तथा एक ब्रह्म जिज्ञासु नारी शक्ति के सामने बोल रहे हैं। वह तीनों संक्षेप में बहुत कुछ समझ सकते हैं। प्रेमी तो मौन की भाषा भी समझ लेते हैं। सफल जीवनसाथी कुछ ही शब्दों में अपने साथी के मन की बात को जान लेते हैं। प्रेम विवाह में परिवर्तित होकर यदि अखंड रहता है तो वहाँ दोनों पात्र खुलते हैं। वाणी से विशेष निकटता का अनुभव करते हैं और अभिव्यक्त होते हैं परंतु वे शब्द सार्थक होते हैं, यथार्थ होते हैं और ब्रह्म

जिज्ञासु तो चारों ओर से अपनी चेतना को समेट कर अंतर के प्रति केन्द्रित होता है। तब उसे ज्यादा शब्द विक्षेप करते हैं। निरर्थक शब्दों का वहाँ कोई स्थान नहीं होता। वह इशारे में समझ जाते हैं। चीन और जापान में विकसित ज्ञेय परंपरा में गुरु के कुछ इशारों से या चेष्टाओं से ही शिष्य जाग जाता था। यहाँ भी शिव अपने में बहुत विस्तृत अर्थ समाने वाले शब्दों से संक्षेप में उपदेश देते हैं और एक प्रेमिका, अर्धांगिनी, शिष्या और ब्रह्मजिज्ञासु साधिका सबकुछ समझ जाती है। परंतु साधारण मनुष्य ये सब नहीं समझ पाता है। और उसके लिए विस्तार करना अनिवार्य हो जाता है। शिव शुद्धिकरण, व्याधिमुक्त और वशीकरण तथा आकर्षण ये चार शब्द देते हैं परंतु ये चार शब्द चारवेद जैसे महिमावान हैं।

घोषनाद के श्रवण से भीतर के रसायण ऐसे बदलने लगते हैं कि तन-मन शुद्ध होते हैं। परिणाम स्वरूप तन-मन की व्याधि से योगी मुक्त होता है। जिसकी वजह से स्वास्थ्य और प्रसन्नता बरसती है।

प्रिय साधको!

जो व्यक्ति “स्व” में स्थित है उससे वश होना स्वाभाविक है। जहाँ चुंबक है, वहाँ धातु आकर्षित होगी ही। जहाँ प्रकाश है वहाँ परवाने आ जाएंगे।

वशीकरण शब्द को लेकर लोगों में बहुत सी उत्सुकता और प्रश्न हैं। वे मानते हैं कि वशीकरण मंत्र, वशीकरण प्रयोग और दूसरों को अपने वश में ले लेने की कोई विद्या है। और मनुष्य का अज्ञान है कि दूसरों को अपने वश में लेना चाहता है। मनुष्य की दो ही तकलीफ़ें हैं। या तो वह दूसरे से वशीभूत हो जाते हैं या दूसरे को वश करना चाहते हैं। कुछ लोगों का स्वभाव वशीभूत हो जाने का होता है। वे जिंदगीभर किसी ना किसी से वशीभूत होते रहते हैं। उन लोगों के पास अपनी स्वयं

दृष्टि नहीं है। ना ही नीर-क्षीर विवेक है। छोटे से हवा के झोंके से जैसे तिनका इधर उधर उड़ता रहता है वैसे ही हैं वे लोग। तिनके की तरह हल्के से प्रभाव से वे दिशा बदल लेते हैं। आज एक से वशीभूत हैं तो कल दूसरों से, क्योंकि आखिर वे मनुष्य हैं। ऐसे लोग कोई समर्पित साधक नहीं होते हैं कि किसीको अपना मन सौंप दें। उन लोगों का मन आज एक चीज़ से वशीभूत है तो कल दूसरी से। आज एक संत से तो कल दूसरे संत से। आज एक प्रेमी से तो कल दूसरे प्रेमी से। ये असंतोष और अस्थिरता के लक्षण हैं, अजाग्रत मन की दौड़ और मांग है। जागे हुए मनुष्य का मन तो शांत हो जाता है, उसका दौड़ना बंद हो जाता है। मांग समाप्त हो जाती है। निर्विषयी मन को विषय परिवर्तन करने की क्या जरूरत? मन होगा तो किसीसे वश भी होगा, मन रहेगा तो कभी किसीको वश करना भी चाहेगा परंतु मन अदृश्य हो गया तो दोनों बातें समाप्त हो जाएंगी। परंतु साधारण मनुष्य के लिए मन के पार जाना इतना आसान नहीं, क्योंकि उन लोगों का अस्तित्व ही मन में है। जिसकी वजह से उनसे मजबूरन ऐसा हो जाता है। जागना चाहते नहीं। वे डरते हैं जागने की विधियों से। ऐसे लोग अपने मन की कमज़ोरी के कारण वशीभूत होते रहते हैं अथवा अपना स्वार्थ, अपना अहंकार, अपने मोह के लिए मंत्र-तंत्रादि से किसी को वश में कर लेना चाहते हैं। वास्तव में दोनों भ्रम हैं। कोई किसीके कायम वश होता नहीं है न कोई किसीको कायम वश कर सकता है। शाश्वत विधि है जागना और ध्यान की सारी विधियाँ मनुष्य को जगाने के लिए हैं। परंतु अजाग्रत लोग अज्ञान की वजह से अपने मन को तृप्त करने के लिए मंत्र-तंत्र, दोरा-धागा, ओझा, ज्योतिष और वशीकरण विधियों के पीछे पागल रहते हैं। और कुछ चालाक लोग ज्योतिष, तंत्र और वशीकरण के नाम से ऐसे मूर्खों का खूब फ़ायदा उठाते हैं। मैं कहूंगी कि वे दोनों अपराध हैं। एक मनोपराध

कर रहा है। और धंधादारी मंत्र-तंत्र वाला बनावट करने का तथा भ्रम फैलाने का अपराध कर रहा है। ध्यान मनुष्य को हर प्रकार के अपराध कृत्यों से मुक्त कर देता है।

अब शिव जिस वश और आकर्षण की बात करते हैं उस पर जरा सोचो। शिव कहते हैं कि घोषनाद वश करने वाला और आकर्षण करने वाला एक उत्तम नाद है। मैंने पहले भी कहा था कि शिव की भाषा गहन है। वश एक गर्भित अर्थ रखता है। शिव ने यह नहीं कहा है कि घोषनाद को उपलब्ध साधक से वशीकरण बढ़ता है और आकर्षण होता है। परंतु शिव कहते हैं कि यह नाद वश करने वाला और आकर्षणकारी है। इसके दो अर्थ हो सकते हैं, एक तो साधक घोषनाद तक पहुंचेगा या उसका मन पूरी तरह से वश में आ जाता है। और फिर उसे वह उत्तमनाद की फिर फिर के अनुभूति करने का आकर्षण रहता है।

दूसरे अर्थ में ऐसा भी कह सकते हैं कि जो स्वस्थ और प्रसन्न है। उसी के वश में होना स्वाभाविक है। भारत के ऋषि-मुनि की आंतरिक स्वस्थता के कारण हिंसक पशु-पक्षी भी उनके वश में हो जाते थे। तो मनुष्य का तो उनसे वश होना स्वाभाविक है क्योंकि आम आदमी अस्वस्थ है, अप्रसन्न है, बीमार है, दुःखी है, वह अपनी पीड़ाओं का शमन चाहता है।

जो ध्यानी घोषनाद को उपलब्ध हो गया है। वह कभी चाहता नहीं है कि कोई उससे वशीभूत हो अथवा वह किसीको वश में कर ले। क्योंकि उसने तो महावशीकरण सिद्ध कर लिया होता है। मैं कहती हूँ कि अपने आप को वश में कर लेना ही महावशीकरण है। फिर भी मन के पार जाकर जिस साधक ने घोष का नदन सुन लिया है वह इतना स्वस्थ होता है कि लोग उनकी स्वस्थता से वश होकर स्वस्थ बनने के लिए उसके निकट आते हैं। जैसे पुष्प के आसपास भंवरे।

प्रिय साधको!

अंतर्नाद सुन लेने वाला साधक शीतल छाया जैसा बन जाता है। जीवन की लंबी यात्रा से थके हुए और हारे हुए मुसाफिरों को वृक्ष से आकर्षित होना और उसकी छाया में बैठकर अच्छा लगता है। धूप से त्रस्त मनुष्य को हवा का झोंका आकर्षित करता है, वैसे ही दुःख-दर्दों के मारे मनुष्य को घोषनाद से प्रसन्न और स्वस्थ योगी आकर्षित करता है।

बुद्ध और महावीर को देखते ही लोग आनंदित हो जाते थे, क्यों? क्योंकि उनकी स्वस्थता और प्रसन्नता इतनी थी कि उनके सानिध्य में आते ही उनका असर आने लगता था।

प्रिय साधको!

लोग स्वस्थ और प्रसन्न रह सकते हैं या नहीं ये अलग बात है परंतु स्वस्थ होना जरूर चाहते हैं। प्रसन्नता उन्हें प्यारी है। आप प्रसन्नता को ढूंढते हैं। मनुष्य प्रसन्नता की उपासना करता है, प्रसन्नता जीवन देती है, उदासीनता मृत्यु का अहंसास कराती है। और ध्यानस्थ योगी के सानिध्य में लोग वास्तविक आरोग्य और आनंद का अनुभव करते हैं। आज तक जितने भी भगवान की मूर्ति या चित्र बने हैं, वे सब प्रसन्न हैं, देखना। चित्रकार की गलती से थोड़ा भी उदास चेहरा बन गया हो तो ऐसा चित्र कोई पसंद नहीं करता। और इसी वजह से ज्यादातर घरों में कृष्ण की छबि होती है, क्लीओपेट्रा की नहीं।

प्रिय साधको!

चौथा घंटा नाद है। शिव का कथन है कि वह सभी देवताओं का भी आकर्षण है तो भूलोक स्थित मनुष्य की तो बात ही क्या करें?

कभी कभी अपरिपक्व आध्यात्मिक अवस्था में ध्यानी की कुछ बातें अतिशयोक्ति लगती हैं परंतु वह उसकी अनुभूति होने लगती है तब साधक उसका वास्तविक आनंद ले सकता है।

आपने हिन्दु कथाओं में कई बार पढ़ा होगा, सुना होगा कि एक ऋषि तप कर रहा था तब देवताओं के राजा इन्द्र ने प्रगट होकर कहा कि जो मांगना है, वह मांगिये मैं प्रसन्न हूँ। वह तप केवल शरीर को तपाना नहीं होता है वहाँ तो देह प्राण और मन सबकुछ तपते तपते किसी अज्ञात में विलीन होते जाते हैं और योगी निराकांक्षा की अवस्था तक पहुँचता है तब देव भी सोचते हैं कि हम तो अपार्थिव शरीरधारी होने से आकाश में उड़ते हैं परंतु यह योगी तो पृथ्वी पर रहता हुआ भी पार्थिव आकर्षणों से मुक्त हो गया है। इतना ही नहीं परंतु हम तो देव होने पर भी भोग नहीं छोड़ सकते परंतु यह योगी भोगों से ऊपर उठ गया है। मनुष्य से हम ज्यादा सामर्थ्यवान होने पर भी कर्म नहीं कर सकते हैं। जबकि यह योगी यत्न करते करते यत्य के पार चला गया है और हर प्रकार से अक्रिया में प्रविष्ट होकर मनुष्य होने पर भी अनहद में चला गया है। हमारी गति मनुष्य से भले ज्यादा है परंतु यह तो मनुष्य होकर परागति को प्राप्त हो गया। हमारी दुनिया देव होने पर भी बाहर की रही जबकि उसने अंतरविश्व को पा लिया। हमें भोग भुगतने के लिए कम से कम संकल्प तो करना पड़ता है, इच्छा तो करनी पड़ती है, परंतु यह अनाहतनाद के सूक्ष्म जगत में पहुँच गया जहां इन्द्रियों की शक्ति के बाहर दिव्य नाद सुनाई देते हैं। हम तो अप्सराओं को नचाते हैं और कुछ पाने के लिए कभी कभी नाच भी लेते हैं परंतु यह तो नाचने और नचाने से ऊपर उठ गया।

प्रिय साधको!

देव का योगी से आकर्षित होने का अर्थ है कि देव ने घुटने टेक दिए। मनुष्य के आध्यात्मिक पुरुषार्थ को सलाम किया। मनुष्य की साधना क्षमता से अभिभूत हुए, मनुष्य की आध्यात्मिक सफलता से प्रभावित हुए, योग से देव का आकर्षित होकर योगी के सामने प्रगट होने

का अर्थ इतना ही है कि उसने योगी की श्रेष्ठता का स्वीकार कर लिया, उसने कबूल कर लिया कि आप देव से भी आगे हैं। आपकी साधना वंदनीय और सराहनीय है।

प्रिय साधको!

देव भी योगी जनों से क्यों आकर्षित होते हैं? मैंने एक बार पहले बताया था, मृत्युलोक कर्मभूनि है, देवलोक भोग भूमि है। मनुष्य कर्म करता है तब फल मिलता है, देव पूर्व के संचित पुण्य से केवल भोग भुगतते हैं। उन्हें कर्म नहीं करना पड़ता परंतु मुक्तिलोक दोनों से पर है, वहाँ कर्म है फिर भी नहीं है। वहाँ अनिवार्य कर्म अथवा सहज कर्म स्वाभाविक हैं परंतु कर्म करके फल पाने की इच्छा को कोई स्थान नहीं होता, नहीं कमाने की इच्छा, नहीं भुगतने की भावना। देव तो केवल भोग भुगतने के लिए ही है, वे केवल जो जमा है उसे खा रहे हैं। जमा पूंजी खत्म होते ही उन्हें फिर से कमाई करनी पड़ती है। परंतु एक अर्थ में देव अभिशापित है। उसके पास कर्म करने का अधिकार नहीं है। भारतीय धर्मशास्त्र कहते हैं कि पूंजी खत्म होते ही उन्हें देवलोक में से निकल जाना पड़ता है। बेशक! उसकी आयु मनुष्य से ज्यादा होती है परंतु मनुष्य जो कम समय में यत्न करके जो प्राप्त कर सकता है वह देव लंबे अरसे के बाद भी नहीं कर सकते। वे केवल भोग के लिए यत्न कर सकते हैं, भोग के पार जाने के लिये नहीं।

मेरे चिंतन के अनुसार मैं ऐसा कह सकती हूँ कि उन लोगों के पास यह क्षमता नहीं है। अस्तित्व ने उन्हें मुक्ति साम्राज्य के लिए बनाया ही नहीं है। इसलिए उनके चाहने पर भी वे योगस्थ नहीं बन सकते, ध्यानस्थ नहीं बन सकते, वो भोगों का ध्यान कर सकते हैं परंतु ध्यान नहीं कर सकते। ध्यान का अर्थ है त्याग और भोग के पार जाने की कला तथा योग की पूर्णता की कला। यह कला जो जान लेता है उसे फिर

योग के लिए भी कुछ करने को बाकी नहीं रहा क्योंकि ध्यान के बाद बचती है सिर्फ समाधी। जो योगपूर्ण अवस्था है, जहाँ योग पूरा हो गया, जिससे जुड़ना था उससे जुड़ गए। अब न मिलना रहा न बिछड़ना।

मैंने कुछ ऐसे इलेक्ट्रॉनिक्स डिवाइस देखे हैं कि उसमें जो सुविधा है वह उससे नीचे के मॉडेल में नहीं होती। ऐसे उपकरणों को विज्ञान एडवांस डीवाइस कहते हैं परंतु ऐसे उपकरणों में एक तकलीफ भी देखी है कि जो नीचे के मॉडल में सुविधा होती है वह एडवांस मॉडल में से निकाल दी जाती है। परंतु कभी कभी ऐसा भी होता है कि एडवांस डीवाइस जो नहीं कर सकता वह पुराना अथवा कम एडवांस मॉडल कर देता है।

मैं कहती हूँ कि देव, यक्ष, किन्नर, गंधर्व, मनुष्य आदि अस्तित्व के द्वारा बनाए हुए विविध मॉडल्स हैं। किसी ना किसी विशेषता के कारण प्रत्येक अपने आप में विशिष्ट हैं, अद्भुत हैं। एक के पास जो क्षमता है वह दूसरे के पास नहीं, ऐसा क्यों? ऐसा होने में ही दुनिया की मज़ा है। सबकुछ एक सा होता तो दुनिया दुनिया से ऊब जाती। ऐसा होता तो किसीको किसीकी जरूरत नहीं रहती। ऐसा होता तो अज्ञात सृष्टि की कला अधूरी और मोनोटोनस लगती। अस्तित्व में से मनुष्य की आस्था उठ जाती। किसीको किसी विशेष की खोज नहीं रहती। हर आदमी एक दूसरे का बहेरूपिया लगता। ऐसी स्थिति में आदमी पागल हो जाता। ब्रह्मांड में अंधाधुंधी छा जाती। जीव की पात्रता कैसे सिद्ध होती? अगर ऐसा होता तो सब गधे मनुष्य जैसे दिखते या सब मनुष्य गधे जैसे। फिर तो देव और भगवान भी गधे जैसे? फिर कैसे पता करें कि इनमें से गधा कौन और भगवान कौन? बड़ी अव्यवस्था खड़ी हो जाती। गधा ज्ञानी को गधा मान लेता और ज्ञानी गधे को ज्ञानी मान लेता।

संत कहते हैं कि भगवान दयालु है। इसका अर्थ यही है कि उस दयालू अज्ञात ने सब जीवों को भिन्न भिन्न क्षमता, रंग, रूप और स्वभाव दिया। जो देव को दिया वह मनुष्य को नहीं दिया और जो मनुष्य को दिया वह देव को नहीं दिया। फिर भी संतो ने मनुष्य देह की सराहना इसलिए की है कि यह कुछ बातों में देव से भी आगे है। मनुष्य के पास अध्यात्म जगत की धारणा है, साधना का भाव है। यह धारणा और भाव से वह ध्यान तक पहुंचकर देव-दनुज-मनुज सबसे पार जा सकता है। जबकि देव के पास ऐसी धारणा या भाव हो तो भी उसे साधना करने के लिए मनुष्य योनि में फिर से जन्म लेना पड़ता है, धरती पर उतरकर ही वह इस आध्यात्म के उपवन का आनंद ले सकता है। संसार चक्र के पार जाने के लिए एक बार सच्चा मनुष्य बनना पड़ता है। मनुष्य देह एक ऐसा पड़ाव है कि उन्नति या अवगति किसी भी तरफ जाने के लिए एक बार यहाँ से गुजरना ही पड़ता है। और इसीलिए देवों को भी मनुष्य शरीर का आकर्षण रहता है। हिन्दु के प्रमुख अवतार हों, मुस्लिम के पयगंबर हों या जैनों के तीर्थंकर – सब मनुष्य बनकर ही आये हैं। दुनिया को तारा है और खुद तैर गये हैं।

याद रहे! देवों को कभी साधारण मनुष्य का आकर्षण नहीं होता। वे तो ध्यानस्थ योगियों से आकर्षित होते हैं। क्यों? क्योंकि यह अवस्था प्रत्येक जीव की आत्यंतिक खोज है। अंतिम ख्वाहिश है। जिस ख्वाहिश के बाद कोई ख्वाहिश नहीं सताती। सारी ख्वाहिशें सदा सदा के लिए समाप्त हो जाती हैं। ऐसी अवस्था पर देव भी फिदा हो जाते हैं अथवा कभी कभी देवों को भी ईर्ष्या उत्पन्न होती है। तब देव या तो वरदानों को देकर स्वयं उपकृत होने का अनुभव करते हैं अथवा खुद जहाँ नहीं पहुँच पाये वहाँ एक अल्पजीवी मानव पहुँच जाएगा। ऐसे द्वेष भाव से साधना में विक्षेप भी खड़े कर सकते हैं। विघ्न भी डाल सकते

हैं। साधक की साधना को खंडित करने के लिए नए नए आकर्षण पैदा भी कर सकते हैं। जिसे शास्त्र रंभा, मेनका और रिद्धि सिद्धियाँ कहते हैं। वे कभी काम, कभी क्रोध, कभी लोभ और मोह के रूप में प्रगट होते हैं।

प्रिय साधको!

एक दूसरी बात याद रहे। हम भले भाषा में साधना करना या ध्यान करना आदि शब्दों का प्रयोग करें परंतु प्रत्येक क्रिया का आरंभ और अंत है। परंतु आनंद और ज्ञानतत्त्व अंतहीन हैं। जिसे दार्शनिक सच्चिदानन्द कहते हैं। वह भगवान है, और याद रहे! जिसका आरंभ और अंत है ऐसे कृत्य से अनारंभ और अनंत को कैसे प्राप्त किया जा सकता है? मैं यह कहना चाहती हूँ कि साधना जब तक क्रियात्मक बनी रहे तब तक वह अधूरी है, और अखंड की उपलब्धि नहीं हो सकती। किसी भी साधना का आरंभ क्रियात्मक लग सकता है परंतु वास्तव में वह एक अस्तित्वगत निरंतर घटना है। और यह घटित होने के बाद ही सच्चिदानंद की प्राप्ति होती है। क्रिया सीमित होती है। फिर यह धर्म कार्य हो या कुछ और। साधना असीम है और असीम में समावेश करा देती है।

और याद रहे! अनाहतनाद ध्यान कोई क्रिया नहीं है। वह अनुभूति तो प्रत्येक क्रिया का अतिक्रमण है।

शिव कहते हैं चौथा घंटनाद है और उस तक पहुंचने वाले योगी को नादसिद्धि के प्रभाव से आकर्षित होकर यक्ष और गंधर्व भी योगी को इच्छित महासिद्धि को देते हैं।

प्यारे साधको!

प्राचीन तंत्र विधि में यक्षिणियाँ माहिर थी। आपने यक्ष और युधिष्ठिर का संवाद सुना होगा। यक्ष परीक्षा लेते थे। और अगर कोई पास हो जाए तो इच्छित फल देते थे।

परंतु मैं कहती हूँ कि ये सिद्धियाँ परम सिद्धियाँ नहीं हैं। यह तो एक परीक्षा है। यक्ष देव अथवा गांधर्वों के प्रसन्न होने पर भी जब कुछ मांगने की आकांक्षा न हो तब वही योगी की सच्ची योगावस्था है। आप एक सीधी बात याद रखना जहाँ इच्छा है वहाँ मन है – और जहाँ तक मन है वहाँ संसार है। जब तक संसार है तब तक द्वैत चक्र है। वह द्वैत फिर सुख दुःख का है या जन्म-मृत्यु का।

५

शिव कहते हैं कि पांचवा वीणानाद है। इसमें दूर स्थित पदार्थ देखे जा सकते हैं।

प्रिय साधको!

साधना मार्ग में संशय, प्रमाद जैसे विघ्न, परीक्षा, पतन ये सब की संभावना है। वैसे ही दृढभावना के साधक के लिए सिद्धि प्राप्ति अशीर्वाद, दिव्य अनुग्रह और शीघ्रपरिणाम भी संभव हैं। एक बार जब साधक विकसित होने लगता है तब उसके सामने ऐसे ऐसे परिणाम आते हैं जिनसे वह स्वयं भी आश्चर्य से भरकर आनंदित हो जाता है।

शिव कहते हैं कि वीणानाद के प्रभाव से दूर स्थित पदार्थ देखे जा सकते हैं। इसे अतिन्द्रिय शक्ति अथवा मन की पराशक्ति कह सकते हैं। मेरा ऐसे सिद्धों के साथ सिटिंग हुआ है। आपके लिए ये सारी बातें शायद आश्चर्यजनक या असंभव भी हो सकती हैं, परंतु मेरे लिए नहीं क्योंकि मैंने ये सब अनुभव किया है।

साधारण मनुष्य ऐसी चमत्कारिक बातें सुनकर साधना के लिए प्रेरित होता है। साधारण मनुष्य ऐसी सिद्धियाँ प्राप्त करके कुछ कर लिया अथवा कर दिखाया अथवा मैं भी कुछ कम नहीं हूँ, कुछ जानता हूँ, मेरे पास भी कुछ है – ऐसी भावना से प्रेरित होकर साधना करने लगता है। परंतु ये रवैया गलत है। ऐसे भाव से कभी साधना नहीं

करना। कभी कभी दूसरों की मदद करने की भावना में से भी साधना के द्वारा कुछ शक्तिपूर्ण असाधारण चीज प्राप्त कर लेने की खोज जगती है। परंतु यह भी गलत है।

मैं कहती हूँ साधना केवल साधना के लिए करो, ध्यान ध्यान के लिए। जैसे प्रेम प्रेम के लिए हो तब तक ही उसका आनंद है। उसमें जब किसी भी प्रकार का गणित अथवा स्वार्थ जुड़ जाता है तब प्रेम का मजा बिगड़ जाता है; वैसे ही ध्यान को जब तक ध्यान के लिए करोगे तब तक ही मजा है। और उसके द्वारा कुछ दिव्य घटित हो जाता है तो वह सहज प्राप्य है। उसे घटने दो, परंतु कुछ पाने के लिए साधना नहीं करो। ईश्वर को पाने के लिए भी नहीं। ईश्वर को कोई पा नहीं सकता क्योंकि वह खोया ही नहीं है। जो खोया होता है उसे पाने का या ढूंढने का प्रयास करना पड़ता है। ईश्वर तो आपके साथ आपके पास रोम रोम में है। आपने उसे अदृश्य मान लिया है। क्योंकि दृश्य में उसका दर्शन करने की क्षमता आपने खो दी है। वह आपकी मूल क्षमता है। साधना के द्वारा वह आपको पुनः प्राप्त होता है, तब सर्वत्र उसकी अनुभूति होती है।

शिव कहते हैं कि आप इस वीणा नाद से दिव्य दृष्टा बन जाते हैं। परादृष्टि को प्राप्त करते हैं। इसका अर्थ हुआ आपके भीतर की भावना विकसित होने लगी, आपकी इच्छा नहीं थी तब तक भीतर के भगवान सुषुप्त थे, निष्क्रिय थे।

एक बात याद रहे! आदमी जबरदस्ती करता है। आग्रह रखता है, हठ करता है। भगवान कभी जबरदस्ती नहीं करते। वह तो प्रेम के आधीन हैं, बुलाने से आ जाते हैं। नहीं बुलाओ तो आपको खलल नहीं पहुंचाते। ध्यान है अंतर के ईश्वर को प्रेम करना। बेइरादा प्रेम करना। भक्ति है साकार को प्रेम करना और ध्यान है निराकार को प्रेम करना। उसकी अनेक विधियाँ हैं। अनाहतनाद भीतर के भगवान की गुणगुनाहट

है। विराट की वीणा का गुंजन है। दुनियां से अपनी वृत्तियों को भीतर की ओर खींचकर आपमें भीतर उतर जाता है, जिसके शब्द मौन हो जाते हैं, क्रियाएं अक्रिया बन जाती हैं तब भीतर के भगवान का संगीत सुनाई देता है। वह एक ऐसी अवस्था है कि वहाँ मन शब्द और विचार के पार चला जाता है। शरीर शांत होकर स्थिरत्व को प्राप्त करता है। और परमात्मा के प्रगटीकरण के लिए जगह बनती है। भगवान सुनते हैं, भगवान कार्य करते हैं, बेशक मनुष्य से तो प्रभु की शक्तियाँ विशेष ही होती हैं। आप एक हद से दूर देख नहीं सकते हैं। एक हद से ज्यादा असरकारक बोल नहीं सकते हैं। एक हद से ज्यादा कार्य नहीं कर सकते हैं। एक हद के बाहर की आवाज सुन नहीं सकते हैं। एक हद से ज्यादा अनुभव भी नहीं कर सकते हैं, परंतु जिस योगी में परमात्मा प्रगट हो गए वह दूरदर्शी बन जाता है। सूक्ष्म श्रोता बन जाता है। उसे देव भी मिलना चाहते हैं। देवकन्याएं उसकी सेवा करना चाहती हैं। सिद्धियाँ उसका सहयोग करने लगती हैं और फिर भी भगवान सर्व के साक्षी रहते हैं। उन सब चीजों में आसक्त नहीं होना ही भगवद्ता है। आसक्त हो जाना ये फिर से साधारण मानव हो जाना है। साधारण मानव होना कुछ गलत नहीं है। परंतु भगवद्ता के क्षेत्र में प्रवेश करना ये मानव की अंतिम सफलता है। महामानव मानवता का गौरव है।

शिव कहते हैं कि वीणानाद सुनने वाले व्यक्ति उस नाद शक्ति के प्रभाव से दूर की चीजों को देख सकते हैं। उसके दो अर्थ हैं – एक तो जो घटनाएं उससे दूर घट रही हैं, ऐसी घटनाओं का उसकी अंतर्चेतना को पता चल जाता है और दूसरा जो बात या घटना कुछ समय के बाद होने वाली है उसका उसे पहले पता चल जाता है। ऐसी शक्ति प्राप्त होने से योगी भविष्य में घटित घटनाओं को बहुत पहले देखकर सचेत हो सकता है। चाहे तो दूसरों को सचेत कर सकता है। भविष्य भाख

सकता है। परंतु ज्यादातर सिद्ध तो सबकुछ दिखाई देने के बावजूद भी मौन रहते हैं क्योंकि लोगों को एक बार पता चल जाता है तो फिर अपने स्वार्थ के लिए ऐसे योगी को चेन से नहीं रहने देंगे। दुनिया बहुत दुःखी है। वह अपने सुख के लिए आपको किसी भी रूप से खलल पहुंचा सकती है। उसे आपकी साधना, शांति या अवस्था के साथ कुछ लेना देना नहीं। वे तो कहती हैं कि हमारा दुःख दूर करो। और साधक अगर एक बार किसी का भला कर रहा है ऐसे भ्रम में पड़ गया तो फिर कभी खड़ा नहीं हो सकता। वह वहाँ ही अटक जाता है। यात्रा अधूरी छूट जाती है। जैसे कोई फस्ट या सेकन्ड यर पे अटक गया, विश्वविद्यालय में जाने के बाद भी अभ्यास पूरा नहीं कर पाया। ठीक वैसे ही ध्यान का विश्वविद्यालय अद्भुत और अदृश्य है। वहाँ से वापस मत लौट आना। अध्ययन पूरा होने के बाद वापस लौटने के सारे रास्ते अदृश्य हो जाएंगे। क्योंकि फिर आप दुःखी दुनिया का हिस्सा बनना नहीं चाहेंगे।

प्रिय साधको!

शिव कहते हैं कि वीणानाद सुनने वाला दूरदर्शी बन जाता है। शास्त्र में, पुराणों में, इतिहास में ऐसे अनेक योगियों के, सिद्धों के दृष्टान्त मिलते हैं। राम ने मंत्रीमंडल को कह दिया था कि अब मेरा समय हो गया है। कृष्ण को भी पता चल गया था कि अब द्वापर पूर्ण हो गया है। कलियुग के भी कुछ वर्ष बीत गए हैं। अब मुझे तैयारी करनी है। ये तो हुई देह छोड़ने के संबंध में बातें। परंतु इसके उपरांत भी कई सिद्धों को भविष्य में घटने वाली अनेक घटनाएं दिखाई देती हैं। जिसे अंग्रेजी में clairvoyance कहते हैं। आपने महाभारत और गीता में संजय का नाम सुना होगा। जो धृतराष्ट्र को महेल में बैठे बैठे कुरुक्षेत्र के मैदान में क्या चल रहा है वह बताता था।

प्रिय साधको!

साधारण मनुष्य की दुन्यवी क्षमताओ ने टी.वी. और नेट जैसी अद्भुत खोज कर ली, तो आध्यात्मिक विश्व की शक्तियाँ तो अपार हैं। उन शक्तियों की प्राप्ति से कुछ भी असंभव नहीं।

नेस्त्रादामस ने जो सैंकड़ो वर्ष पहले कुछ दृश्य देखकर जो भविष्यवाणी की हैं उनके कई अंश आज सत्य हो रहे हैं। इसे आप का शास्त्र कह सकते हैं। जो ज्योतिष शास्त्र के पार का सत्य है। परंतु याद रहे! इस सिद्धियों पर अटकना नहीं है। उससे प्रलोभित नहीं होना है। पर्वत की कुछ साढ़ियाँ चढ़कर जो संतोष मान लेता है ऐसा मुसाफिर शिखर का आनंद कभी नहीं ले सकता। वहाँ पहुँचकर आप अफसोस करते हैं कि अब तो दुनियां बहुत दूर छूट गई। और परमात्मा आपके बहुत निकट हैं।

छठा वंशीनाद है। इससे सभी तत्वों का ज्ञान हो जाता है।

प्रिय साधको!

यहाँ ईशारा मात्र है। फिर से भाषा गहन लगती है। “सभी तत्वों” का अर्थ क्या है? यहाँ ज़रा लक्ष्य देने योग्य बात है। यह एक गर्भित वाक्य है। शायद शिव के लिए भी अवर्णनीय है। शब्दों से बात पूरी पूरी स्पष्ट नहीं हो सकती थी इसलिए शिव ने इतना ही कहा , “ध्यायतो वंशनादंतु सर्वतत्त्वं प्रजायते”।

सातवां दुंदुभी नाद है। उसका ध्यान करने वाला जरा मृत्यु से मुक्त हो जाता है।

प्रिय साधको!

जरा का अर्थ है बुढ़ापा और मृत्यु का अर्थ है दृश्यमान जीवन का अंत। शिव कहते हैं दुंदुभी नाद को उपलब्ध साधक वृद्धत्व से मुक्त हो जाता है। बात आश्चर्य उत्पन्न करने वाली है परंतु सटीक है। जरा से मुक्त हो जाने का अर्थ ये नहीं है उसका शरीर कभी वृद्ध नहीं होगा।

शरीर तो समय के साथ क्षीण होता ही है। जो उत्पन्न हुआ है वह निर्धारित अवधि के बाद नष्ट भी होगा। यह तो सृष्टिचक्र है। यह तो संसार का नियम है। परंतु अर्थ इतना करना है कि योगी का शरीर वृद्ध होता है, योगी वृद्ध नहीं होता। मृत्यु के आगमन से योगी शरीर से मुक्त होता है मरत नहीं।

संतो जोगी नाही मरे।

मनुष्य शरीर से तो बाद में, पहले मन से और स्वभाव से बूढ़ा हो जाता है। शारीरिक और रासायनिक परिवर्तनों से वह इतना घबरा जाता है कि दुनिया उसे कहे उसके पहले खुद मान लेता है कि मैं वृद्ध हो गया, अब मैं विवश, परवश, पराधीन हो जाऊंगा। मेरे शरीर से कुछ नहीं होगा... इत्यादि। ये शरीर के प्रति आसक्ति का परिणाम है। विशेष आसक्ति विशेष निराशा पैदा करती है।

प्रिय साधको!

परिवर्तनों को देखो, उसके संग मत हो लो। उसका विरोध भी मत करो। अ-विरोध की मनोदशा मनुष्य को ज्यादा स्वस्थ और प्रसन्न रखती है।

कुछ लोग शरीर को इस तरह से इस्तेमाल करते हैं कि वह समय के पहले साथ छोड़ने लगता है। मन पर किए हुए अत्याचार शरीर को जल्दी खराब कर देते हैं। और शरीर पर किए हुए अत्याचार मन को दूषित कर देते हैं। शरीर आधा मन है और मन आधा शरीर है। मन सूक्ष्म शरीर है और शरीर स्थूल मन है। मन के काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि भावों का असर शरीर पर स्पष्ट दिखाई देता है और शारीरिक बीमारियों से मन अस्वस्थ हो जाता है। मन और शरीर को शक्तियों का दुरुपयोग करने वाला मनुष्य जल्दी निस्तेज और वृद्ध हो जाता है। परंतु योगी की समग्रशक्ति साधना में समाप्त हो जाने के कारण उसका चित्त प्रसन्न

और शरीर अत्याचार मुक्त रहता है। जिससे वृद्धत्व दूर रहता है। और समय के साथ शारीरिक वृद्धत्व आने पर भी योगी वृद्धत्व के लक्षणों को देखकर निराश नहीं होता। उसका शरीर वृद्ध होता है। समझ वृद्ध नहीं होती। उसकी स्मृति वृद्ध नहीं होती। वह वृद्धत्व को भी मुक्ति यात्रा का एक पड़ाव मानते हैं। The Secret में लेखक कहता है कि मनुष्य खुद के इतने नकार से भरा हुआ है कि वह कदम कदम पर पहले बुरा सोच लेता है। मैं कहती हूँ कि मन को हकार से भर दो। वृद्धत्व के पड़ाव से उन्हें सहजता से गुजरना है। सजगता से गुजरना है। वह अनिवार्य पड़ाव है। वह विशेष बोध कराते बुढ़ापे को जाग्रति से देखने वालों की बची-खुची देहासक्ति भी छूट जाती है। शरीर की कृशत्व का धर्म समझ में आने लगता है। काया की अवस्थाओं का परिपर्तन परम बोध जगा सकता है। और मृत्यु के स्वागत की तैयारियाँ शुरू होती हैं। मृत्यु का स्वागत करने वाले को मृत्यु मार नहीं सकती। मोहमुक्ति ही मृत्यु से मुक्ति है। जीते जी जिसमें त्याग घट गया उससे मृत्यु क्या छीन लेगी ?

शिव कहते हैं इस नाद को ध्यान करने वाला साधक मृत्यु से मुक्त हो जाता है। अर्थ केवल इतना ही है कि ऐसे साधक का शरीर मरता है साधक नहीं। उसे बोध हो गया होता है कि केवल देह नष्ट होता है, चेतना नहीं। मैं शुद्धचेतना हूँ और देह मेरा निवास है।

शिव कहते हैं कि हे देवेशी! आठवां नाद है – शंखनाद है। उसे सुनने से योगी इच्छानुसार रूप धारण कर सकता है।

प्रिय साधको!

मेरे जन्म स्थान स्वामीना गढड़ा के पास बालानंद नाम के एक ब्रह्मचारी रहते थे। करीब २५ वर्ष की आयु में उसने महाभिनिष्क्रमण किया था। वे योगी पुरुष थे, मैंने उनके दर्शन किये हैं। उनके आश्रम में मैं कई बार गई हूँ। एक बार किसी और संप्रदाय का साधु किसी द्वेष के

कारण हाथ में लट्ट उठाकर उन्हें मारने के लिए दौड़ता हुआ आ रहा था, मेरे पिताजी ने बालानंदजी से कहा कि बापू! आप का शरीर तो बहुत दुर्बल है, आप अतिशय वृद्ध भी हैं, चलने फिरने में भी आपको श्रम पड़ता है और वह जवान साधु क्रोध में है, आप पर अगर प्रहार किया तो आपका शरीर झेल नहीं पाएगा। आप मुझे आज्ञा दीजिए, मैं निपट लेता हूँ। बालानंदजी ने कहा कि आप चिंता मत करो। उसे इधर आने तो दो! साधु करीब २० कदम दूर था कि अचानक बालानंदजी ने मुड़कर एक निकट की शिला पर अपने हाथ का पंजा जोर से पटका। इसमें इतनी आवाज आई कि पूरा माहौल गूंजने लगा। और मार मार करता आ रहा साधु दुगुनी गति से वापस भागने लगा। मेरे पिताजी ने बालानंदजी का हाथ अपने हाथ में लेकर देखा, वह एकदम लाल हो गया था। पिताजी की आंखों में आसुं आ गए और उन्होंने बालानंदजी के पैर छू लिए। बालानंदजी ने उस साधु को एक सिंह का रूप दिखाया था। सती तोरल के रूप को भुगतने की इच्छा से सधीर नाम के वैश्य उसे अपने घर बुलाता है परंतु उसे छू नहीं पाता है। वह तोरल में कभी सिंह तो कभी बाघ का रूप देखता है। फिर डरकर क्षमा मांगकर उसे सादर उसके घर पर वापस लौटा देता है।

प्रिय साधको!

ऐसा करना ये सिद्धि प्रदर्शन नहीं है। जब कभी भी योगी को लगे कि उसकी साधना अधूरी है और कोई दुष्टात्मा उसमें विघ्न डालके उसे खत्म करना चाहता है तब शरीर रूपी साधन की रक्षा के लिए योगी को अपनी साधना की उच्चतम भूमिका तक पहुंचने के लिए ऐसा करना पड़ता है। वास्तव में वह कुछ करता ही नहीं। वह तो केवल नाद में उतरा हुआ होता है, फिर तो सबकुछ संकल्प मात्र से होता है। और आपातकाल में ऐसा करना ये सिद्धि प्रदर्शन नहीं परंतु सिद्धि का उचित

कार्य के लिए उचित समय पर उचित उपयोग है।

कभी कभी कुपात्र साधक भी ऐसी सिद्धियाँ प्राप्त कर लेते हैं। इतिहास कहता है कि महिषासुर नाम का राक्षस विविध रूप धारण कर सकता था। रावण राम का रूप लेकर सीता को मनाने जाता था। और इस तरह से अपनी शक्तियों का नारीओ का शीलभंग कराने में दुरुपयोग करते थे। तब अंबा ने महिषासुर को मारा और राम ने रावण को।

भगवान विष्णु भी विविध रूप धारण कर सकते थे। और देवरक्षा, धर्मरक्षा तथा पृथ्वी को असुरों के त्रास से छुड़ाने के लिए उन्होंने भी शंखासुर और जलंधर का रूप धारण किय था।

इन्द्र गोतम का रूप लेकर अहल्या को छलने के लिए आया था और गौतम के शाप से उसके शरीर में हजार छिद्र हो गए तब से इन्द्र सहस्रभग कहलाया।

ऐसे तो अनेक उदाहरण हैं। तंत्र से कुछ भी असंभव नहीं, परंतु दक्षिण तंत्र में सभी सात्विक विधियाँ हैं और इसमें भी अनाहतनाद श्रवण सर्वोत्तम है, ऐसा मेरा अनुभव है।

सजगता एक ही रखनी है कि साधना समापन होने तक प्राप्त होने वाली सिद्धियों को अंतिम सिद्धि न मानकर और उद्देश्य की ओर साधक निरंतर गतिशील रहे।

संक्षेप में शंङ्खनाद से साधक संकल्पमात्र से मन चाहे रूप की अवधारणा करके अपना रूप बदल सकता है।

हे देवी! नवां नाद है – मेघनाद है। इससे योगी विपत्तियों से मुक्त हो जाता है।

प्रिय साधको!

ये अंतिम और नाद साधना करने वाले योगी को सुनाई देने वाला अंतिम नाद है। शिव कहते हैं कि इससे योगी सर्व आपत्तियों से

मुक्त हो जाता है। बात समझने योग्य है। पहले जितने भी नाद बताए उन नादों की अलग अलग असर प्रभाव और परिणाम है। और वे सारे नादों की सिद्धियां साधक को आपत्तिकाल में मदद कर सकती हैं। परंतु शिव ने अब सर्वोत्तम बात बताई है।

शिव कहते हैं कि मेघनाद को उपलब्ध साधक सब प्रकार की विपत्तियों से मुक्त हो जाता है।

प्रिय साधको!

इससे अच्छा क्या हो सकता है? जब तक विपत्तियाँ आती हैं तब तक उससे मुक्त होने की आवश्यकता रहती है। योगी को जब तक साधना की जरूरत है तब तक साधन को संभालना पड़ता है। और इसलिए आने वाली आपत्तियों से साधन को सुरक्षित रखने के लिए सिद्धियों का प्रयोग भी करना पड़ता है। यहाँ एक बात याद रहे! सिद्धियों के लिए साधना नहीं परंतु साधना के लिए सिद्धि। जो साधक इतना छोटा सा सूत्र समझ लेता है उसकी साधना कभी अधूरी नहीं रहती।

शिव कहते हैं कि एक एक सोपान करके जो नवें नाद को उपलब्ध हो जाता है वह सर्व आपत्तियों से मुक्त हो जाता है।

मैंने सुना है कि एक बार शिष्यों के साथ बैठे हुए भगवान बुद्ध पर द्वेषयुक्त मन वाले उसके चचेरे भाई देवदत्त ने भाडूती लोगों के पास शिला गिरवाई। ऊपर से गिरती शिला को देखकर शिष्य भागे, सबने बुद्ध को भी चिल्लाकर कहा कि तथागत! भागिए, वरना मर जाएंगे। ज्यादा कहने सुनने का समय भी नहीं था। परंतु उन पलों में बुद्ध ध्यान में उतर गए। शिला उनके एक पैर के अंगूठे को छुकर चली गई। मानों स्वयं काल बुद्ध को चरण स्पर्श करने आया है। मेघनाद में प्रवेश करने वाला साधक भला कैसे कर पाएगा अपनी चिंता! वह तो अंतिम सोपान है। वहाँ चिंता और चिंता करनेवाला दोनों समाप्त हो जाते हैं। और ऐसी

स्थिति में समग्र अस्तित्व उसकी रक्षा करता है।

मैं ३० वर्ष पहले जंगल में रहती थी। नारियल के पत्तों की छोटी से एक पर्ण कुटिर, जलपान और स्नान के लिए एक कुआ और कुछ नहीं। कई बार मैं टाट में टांगा हुआ मेरा मृगचर्म उतार कर बिछाने जाती थी और उसमें आराम से बैठी हुई नागिन फुंफककर भयभीत होकर चली जाती थी। मिट्टी के चबूतरे के आसपास से कई बार बिच्छु निकलता था, कभी कभी तो सांप इंचो की दूरी से गुजर जाता था। तब मुझे पता चलता था कि यहाँ से कोबरा गुजरा। अगर वह मुझे काट ले तो वहाँ सहायता, दवा या डॉक्टर मिलने की कोई संभावना नहीं थी। मैं वहाँ अकेली रहती थी। परंतु कभी कुछ नहीं हुआ। तब मुझे इन सारी बातों का अहेसास हो रहा था।

अस्तित्व कितना उदार, महान और वात्सल्यपूर्ण है। बच्चे को भूख लगती है तब माँ के थन में दूध उभरने लगता है। यह करामात अस्तित्व की है, कुदरत की है। वह कहाँ कैसे रक्षा करता है इसका पता नहीं चलता। हाँ, योगी का शिषु जैसा निर्मल, निर्दोष और साधना को समर्पित हो जाना अनिवार्य है।

कुछ नासमझ लोग हमारे शास्त्रों का मजाक उड़ाते हैं। परंतु उसमें उनका दोष नहीं है। उन्हें अध्यात्म का माहोल ही नहीं मिला है अपने पूर्वजों की ओर से, अथवा ऐसे लोगों का भाग्य नहीं है शास्त्रीय बातों को अपना अनुभव बनाना।

रामायण में एक कथा आती है। राक्षसों ने हनुमान की पूँछ जलाई परंतु हनुमान को कुछ नहीं हुआ, पूरी लंका जलाकर आ गए। परंतु खुद संपूर्ण सुरक्षित रहे – दंतकथा जैसा लगता है। परंतु याद रहे! हनुमान एक सिद्धाणी के पुत्र थे। उनकी माता अंजना योगिनी थी। उसे गर्भ से ही योग संस्कार प्राप्त हुए थे। लोग हनुमान को रामभक्त कहते

हैं। भक्ति के लिए योगी हनुमान के गौरव मुकुट की कलगी है। परंतु हनुमान का जन्म तंत्र के द्वारा हुआ है। इतिहास कहता है कि अंजनी के कान में वायुदेव ने गुप्त बात करने का बहाना बनाकर शिव वीर्य को डाल दिया और तपस्विनी अंजना गर्भवती हुई। आधुनिक विज्ञान इस बात का विरोध कर देगा क्योंकि उसके पास रीप्रोडक्शन का एक ही मार्ग है और वह है योनिमार्ग तथा प्रजनन तंत्र के अवयव। परंतु तंत्र में विविध मार्ग हैं। छोड़ो, मेरा ध्येय अभी तंत्र के द्वारा जीवोत्पत्ति का नहीं है, न प्रजोत्पत्ति का। मुझे केवल यहाँ नौवें नाद के बारे में ही बात करनी है। परंतु दृष्टांत के तौर पर मैंने हनुमान के पात्र को उठाया है। शिव स्वयं तंत्र शास्त्र प्रवर्तक हैं। ब्रह्मांड के प्रथम तांत्रिक हैं। और तंत्र गुरु भी हैं। और उसके ही अंश से उत्पन्न होने वाले हनुमान में कुछ सिद्धियों का होना स्वाभाविक था। कुछ उन्होंने स्वयं विकसित की। वैसे भी तंत्र से उत्पन्न आत्मा थोड़े अलग होते हैं; रंग रूप से भी गणेश, हनुमान, वास्तुदेव इत्यादि।

कभी कुछ आशीर्वाद से प्राप्त होता है। आशीर्वाद में बहुत ताकत है। यह बात भी अनुभव से समझ में आती है। सिद्धों के आशीर्वाद प्राप्त करने का सौभाग्य भौतिक सिद्धि के रूप में नहीं मिलते हैं। वह सूक्ष्म और आध्यात्मिक शक्ति के रूप में प्राप्त होते हैं। जो राम से हनुमान को प्राप्त हुए थे। रामकृष्ण परमहंस से विवेकानंद को प्राप्त हुए थे। बुद्ध से बोधिधर्म को प्राप्त हुए थे। जो बुद्ध से नहीं हो पाया वह बोधिसत्व ने करके दिखाया।

प्रिय साधको!

शिव कहते हैं कि मेघनाद को उपलब्ध होने वाला सर्व आपत्तियों से मुक्त हो जाता है।

मैंने एक दृष्टांत सुना था। एक गांव था। वहाँ एक संत रहता था।

किसी कारण से पूरे गाँव में आग लग गई। एक संत की झोंपड़ी छोड़कर पूरा गांव भस्मीभूत हो गया। फिर लोगों ने पूछा के जब आग सबकुछ जला रही थी तब आप कहाँ थे? संत ने कहा मैं तो ध्यान में बैठा था।

यहाँ फिर से वही बात आएगी निरासक्त योगी को पूरा अस्तित्व मदद करता है।

प्रिय साधको!

यह विधि अति पुरातन है। बहुत से मनुष्य और राक्षसों ने उसकी साधना और प्रयोग किए हैं।

आपने रावण के पुत्र का नाम सुना होगा। उसका नाम था मेघनाद। इसका अर्थ मेघ की गर्जना ऐसा मत करना। यह तो अनाहत नादों में से एक नाद का नाम है। रावण ने यह नाम सोच समझकर रखा था। रावण शिवभक्त था। शिव की कई तांत्रिक विधियाँ उसने प्राप्त की थी। वह ऐसा एक पुत्र चाहता था कि जिसे कोई आपत्ति न आए। उसे मृत्यु मार न सके। मेघनाद के जन्म के समय पर उसने व्यवस्था भी ऐसी की थी कि सब ग्रह ऐसे स्थान पर रहें कि जन्म के समय जन्मस्थानों में उन ग्रहों के होने से जातक की मृत्यु ही न हो। उसे कोई मार न सके। परंतु मूल में ही क्षति थी, रावण का हेतु शुभ नहीं था। वह सिद्धि के लिए साधना करता था, वहाँ साधना के लिए सिद्धि नहीं थी। भले कोई योगी हो, परंतु योगभ्रष्ट होकर सिद्धियों का अनुचित उपयोग करके निरंकुश हो जाता है तब अस्तित्व के द्वारा प्राप्त हुई सिद्धियाँ अस्तित्व छीन भी सकता है। जैसे कोई स्नातक अनुस्नातक अपनी पदवी का दुरुपयोग करता है तो यूनिवर्सिटी पदवी केन्सल कर देती है। वैसे ही ईश्वर की यूनिवर्सिटी भी सबकुछ पता रखती है। वहाँ तो फरियाद सुनने वाला अदृश्य रहता है। और बिना किसी फरियाद हुए भी दोषी दंडनीय बनता है। फिर भले वह कितना भी योगी, त्यागी, सिद्ध, तपस्वी क्यों न हो।

अस्तित्व का न्याय अटल है। रावण की तंत्र साधना आत्मकल्याण या विश्वकल्याण के भाव से नहीं थी, वह तो पूरे ब्रह्मांड को अपना गुलाम बनाना चाहता था, अंश अंशी को कैसे गुलाम बना सकता? बूंद सागर को कैसे बांध सकती? असंभव। रावण का सत्तामोह उस हद तक बढ़ गया था कि अगर मैं मर भी जाऊं और मेरा पुत्र मेघनाद अजेय और अमर रहे तो ब्रह्मांड को कदमो तले रखे। योग सिद्धि जब अहंकार बढ़ाने लगती है तब योगी का नाश होता है। इस एक ही बात में भक्तिमार्ग श्रेष्ठ है। वहाँ शास्त्र गेरंटी देता है कि भक्त का नाश नहीं होता, क्यों? क्योंकि भक्त भगवान के आधीन है। तब गलती होने के बाद भी अगर प्रायश्चित और शरणागति होती है तो अस्तित्व रक्षा करता है। भक्त की सरलता उसे बचा लेती है। परंतु योगी का सारा जिम्मा अपने ऊपर होता है। जब तक उसकी योग साधना पूर्णरूप से परिपक्व नहीं हो जाती तब तक वह अस्तित्व को समर्पित नहीं हो सकता। उसके पहले वह समर्पित होता है योग को, ध्यान को; और उससे अगर बे-ध्यान हुआ अथवा अपना योगकार्य छोड़कर सिद्धि या सफलता के कारण कुछ और करने लगा तो पतन होने में देर नहीं लगती। हाँ! कभी कभी गिरा हुआ योगी फिर से खड़ा भी हो सकता है, विश्वामित्र की भांति। परंतु काफी समय हाथ में से निकल जाता है। ऊर्जा का क्षय होता है। इसीलिए योगी को विशेष सजग रहना पड़ता है। वहाँ खुद की रक्षा खुद ही करनी है, खुद की गलती खुद ही देखनी है। स्वयं ही आत्मनिरीक्षण और आत्मपरीक्षण में से गुजरना है। सिद्धियाँ पानी भी हैं और उनसे मुक्त भी रहना है। भक्त के पास भगवान की धारणा होती है। योगी “हरि इच्छा” कहकर हल्का नहीं हो सकता। वह सबकुछ भगवान की मरज़ी पर नहीं छोड़ता। वह जिम्मेदारी लेता है। दायित्व का स्वीकार करता है।

कुछ योगी जवानी में ही मर जाते हैं। उसका एक कारण योगभ्रष्ट होना है। भक्त की तरह वह नहीं रो सकता, नहीं किसीकी शरण में जा सकता, नहीं भगवान पर सबकुछ छोड़ सकता और नहीं फिर से खड़ा हो सकता। तब मानव सहज सदमा और जागृति का अभाव तथा कर्ता का अपराधभाव उसे खत्म कर देता है।

मैं कहती हूँ कि आखिर आप मनुष्य हो गलती भले हो परंतु साधना के लिए हौसला मत गवाँना, आत्मविश्वास मत टूटने देना। अतीत को भूलकर वर्तमान को सार्थक बना लो। गलती का पुनरावर्तन न हो इसलिए सजगता बढ़ाना और स्वयं को माफ कर देना, आप तभी स्वयं को माफ कर पाएंगे जब आप आपको एक कर्ता की भांति नहीं परंतु चेतना की भांति स्वीकारो। स्वयं को मन और शरीर से उत्तम और भिन्न जानो।

योगी स्वयं अपना भगवान है। उसका भगवान कोई और नहीं परंतु उसकी साधना ही है। उसका साधना भ्रष्ट होना अर्थात् अपने भगवान से विमुख होना है। साधना छोड़कर सिद्धियों के पीछे भागना ये भगवान से विमुख होना है।

प्रिय साधको!

शिव के वचन बिलकुल यथार्थ और प्रमाणिक हैं। उसकी अनुभूति करो। शिव कहते हैं कि मेघनाद को सुनने वाला सर्व आपत्तियों से मुक्त रहता है। रहना ही चाहिए, क्योंकि नवें नाद तक पहुंचने वाला फिर व्यक्ति नहीं रहता। वह विराट रूप बन जाता है, वह आपत्तियों को भी आपत्ति की तरह नहीं ले सकता। उसके लिए सुख-दुःख कोई माइना ही नहीं रखते। वहाँ आपत्तियाँ भी बेचारी हो जाएंगी।

सौराष्ट्र के योगी भक्त नरसिंह महेता का इकलौता बेटा मर गया। नरसिंह बोला -

भलु थयु भांगी जंजाल।

सुखे भजीशुं श्रीपाल।

जो हुआ सो अच्छा हुआ, एक जंजाल, एक रिश्ते से मुक्त हो गया।

कबीर की झोंपड़ी में पानी भरने की एक ही मटकी थी। एक बार वह फूट गई। कबीर ने लिखा –

भला हुआ मेरी मटुकी फूटी रे

मैं तो पनियाँ भरन से छूटी रे।

यह बात बहुत विशद् अर्थ में है। कबीर घड़े के प्रतीक से कहना चाहता है कि देह रूपी घड़ा फूट जाए तो भी योगी को आपत्ति नहीं लगती क्योंकि वह तो मुक्ति है। मृत्यु नहीं। संसार की जंजाल से मुक्ति। आपत्ति को प्रभु का प्रसाद समझ लेना ये सर्वोत्तम समझ है।

और फिर शिव द्वारा प्रारंभ में की हुई बात को अंत में फिर से दोहराते हैं कि हे सुमुखी! जो एकचित्त होकर ब्रह्मरूपी तूकार का ध्यान करता है उसके सभी कार्य सिद्ध हो जाते हैं। वह सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी हो जाते हैं। वह अपनी इच्छा से कहीं भी भ्रमण कर सकता है। और वह किसी भी प्रकार के विकारों से युक्त नहीं होता – वह साक्षात् शिव ही है। हे पार्वती! यह नौ प्रकार का शब्दब्रह्म स्वरूप मैंने तुम से कहा।

प्रिय साधको!

मैं भी आपसे फिर से एक बार कहती हूँ कि शिव के शब्द अनुभूति ग्रस्त हैं। वह केवल चर्चा करने के लिए या पढ़ने के लिए नहीं हैं। शिव की वाणी ज्ञानवाणी है। केवल ज्ञान के द्वारा उसे समझा जा सकता है। नव नादों के ज्ञान के लिए आपको ध्यान में उतरना पड़ेगा। शिव ने जो कुछ भी अंत में कहा है वह परिणाम है। विधि नहीं है। परिणाम के बाद कुछ कहने को नहीं रहता क्योंकि तब परिणाम फलता

है।

ध्यान और अंतर्नाद के विषय में मैंने बहुत कुछ कहा। आपको अगर यह विधि आपके लिए उचित लग रही हो। विधि आपके लिए ही है अथवा भले कठिन है परंतु अद्भुत है, “यही सत्य है” ; ऐसा लग रहा है तो आज से प्रारंभ करो। कम से कम एक वर्ष तक, रोज एक घंटा; अस्तु। पूरे ब्रह्मांड से आपको मदद मिले और आपकी साधना से विश्व शांत और आनंदमय हो ऐसी भावना के साथ मैं अल्पविराम लेती हूँ।

एक महाचेतना के परिचय का प्रयास.....

कोई व्यक्ति हो तो हम परिचय भी दें। परंतु एक घूमती फिरती चेतना का परिचय शब्दों से देना कैसे संभव होगा!

प्रबुद्धत्व के प्रवाह में गुरुमैया डॉ हरेश्वरीदेवीजी एक नया उद्गम है, एक अपूर्व आरंभ है। आज तक के किसी भी धर्म संप्रदाय के सूत्रों में न जुड़कर समाज को एक नई दिशा दर्शन कराने वाली एवं धर्मक्रांति करने वाले तथा ध्यान-योग में एक विशिष्ट खोज करके ध्यान-योग में उत्क्रांति करने वाली विश्व की

प्रथम नारी ऊर्जा है।

प्रत्येक युग में ज्ञान और भक्ति के मार्ग में एक विशेष नारी ऊर्जा का प्रभाव रहा है। वह फिर गार्गी हो, मैत्रेयी हो या मीरा परंतु ध्यान मार्ग में पूज्य गुरुमैया एक नया शुभारंभ है। जिसकी नींव कोई धर्म या दार्शनिक परंपरा पर नहीं है। बचपन से ही निर्भीकता, तेजस्विता, स्वतंत्रता एवं वाणी में ओजस्विता वे उनके सहज गुण रहे हैं।

एकांत स्थान में रहना, प्रकृति को आत्मसात करना और कठिन साधना पद्धतियों से गुजरना एवं शास्त्रों का गहन अध्ययन करना यह गुरुमैया का स्वभाव है।

तथाकथित धर्मगुरुओं, द्वेषपूर्ण हृदय के लोगों, और काले पत्रकारित्व की ओर से उठती हुई बाधाओं के सामने हिमालय की भांति अडिग रहकर समाज को सही धर्म के लिए जगाना ये गुरुमैया का अभियान रहा है।

ऐसी अपूर्व नारी ऊर्जा का जन्म २४ जून अषाढी बीज सन् १९६४ में हुआ। आरंभ के पैंतीस वर्ष तक धर्मक्रांति और ध्यानक्रांति के द्वारा मानव मन के परिमार्जन का कार्य किया और अब गुजरात के संस्कार नगरी वडोदरा में ध्यान मंदिर की स्थापना करके लोगों को आध्यात्मिक रूप से सजग कर रही हैं। भौतिक सुखों से तृप्त तथापि अतृप्त और शांति के खोजियों के लिए पूज्य गुरुमैया एक कल्पवृक्ष बनकर आध्यात्मिक छत्रछाया दे रही हैं और ध्यान के माध्यम से मनुष्य को आत्मसंतोष के विश्व का दर्शन उनके भीतर ही करा रही हैं। पूज्य माँ कहती हैं कि-

मुसाफिर हूँ जगाने आई हूँ खलकृत के लोगों को।

चली जाऊँ तो तुम चुपचाप मेरे काम में लगना॥

उपरोक्त मुक्तक ही प्रबुद्धात्मा गुरुमैया हरेश्वरीदेवीजी के परिचय के लिए काफ़ी है। फिर भी कुछ कहना चाहता हूँ -

प्रबुद्ध रहस्यद्रष्टा माँ हरेश्वरीदेवीजी विश्व के आज तक के ध्यानगुरुओं में सर्वप्रथम एक ऐसी नारी ऊर्जा हैं कि जिन्होंने ध्यान की अनेक नई विधियों की शोध की और कुछ प्राचीन विधियों की पुनर्शोध करके भाषा को सरल बनाकर ध्यान सुक्तियाँ नाम से नया ध्यान शास्त्र रचकर ध्यान पिपासुओं को उन विधियों की वैज्ञानिक समझ भी दी। विश्व को एक ऐसे ध्यान शास्त्र की आवश्यकता थी जिसे मनुष्य आसानी से समझ पाए। एक ऐसे धर्म की जरूरत थी कि जहाँ स्वतंत्रता और स्वच्छंदता के नाम से मानव मूल्यों का हास भी ना हो तथा धर्म के ऐसे जड़ बंधन भी न हों कि जहाँ मानव मुरझा जाए। विश्व को एक ऐसे धर्म की जरूरत थी कि जहाँ मनुष्य को भगवद्ता, नैतिकता, मानव मूल्य, ब्रह्मचर्य या अनुशासन सिखाना न पड़े, ना उसके ऊपर ये बातें थोपनी पड़ें परंतु साधक एक ऐसा माहोल प्राप्त करे कि उसकी जीवन शैली सहजता से बदल जाए। शुभ विचार और सद्गुण उसमें पनपने लगें।

विश्व को ऐसा माहोल देने के लिए पूज्य गुरुमैया अंतिम पैंतीस वर्ष से विविध मार्ग से आध्यात्मिक पुरुषार्थ कर रही हैं। मैं अब स्वानुभव के द्वारा कह रहा हूँ कि अब पूज्य गुरुमैया के द्वारा एक ऐसे माहौल का निर्माण हो चुका है।

पूज्य गुरुमैया अनेकानेक भ्रमजालों में घिरे हुए समाज को धीरे धीरे मुक्त कर रहीं हैं। एक नारी शक्ति के द्वारा उठाई गई ये चुनौति कोई साधारण नहीं है। पूज्य गुरुमैया का जन्म गुजरात-सौराष्ट्र के भावनगर जिले के गढड़ा स्वामीना में एक औदीच्य ब्रह्माण परिवार में २४ जून १९६४ में हुआ। गढड़ा जैसे गाँव में इसे धर्म के एक अति से दूसरी अति पर पहुँची हुए एक कुदरती घटना ही कह सकते हैं। पूज्य गुरुमैया ने सन्यास लेकर कोई नाम नहीं बदला। अपने माता पिता को ही गुरु मानकर अध्यात्म के आसमान में बचपन से ही उड़ना शुरू किया।

एक अपार प्रतिभा संपन्न नारी ऊर्जा का नाम है ध्यानगुरु हरेश्वरीमैया। एक सर्जक, चिंतक, कवयित्री, आयुर्वेदज्ञ, योगिनी, धर्म प्रवक्ता, पुराणों की नवसर्जक, योग-शास्त्र और ध्यान-शास्त्र रचयिता उपरांत एक सींगर, कम्पोजर, ध्यानगुरु और वात्सल्य मूर्ति विश्व माता।

पूज्य गुरुमैया ने सिर्फ १४ साल की उम्र में ज्ञानोपलब्धि के बाद महाभिनिष्क्रमण किया। जीवन के सही दर्शन हेतु वह कूद पड़ी पूर्ण असुरक्षितता में। पर्ण-कुटी लगाकर दो वर्ष तक अन्न त्याग हुआ और आध्यात्मिक संघर्ष के साथ साथ आत्मोन्नति होती गई।

जैन शास्त्र में अनेक प्रकार के सिद्ध कहे हैं—उनमें से एक प्रकार है, स्वयंसिद्ध। पूज्य गुरुमैया को हम स्वयंसिद्ध चेतना कह सकते हैं। धर्मक्रांति करते करते ही स्वयं के बल बूते पर विद्याप्रेमी पूज्य गुरुमैया ने फिर से अभ्यास शुरू किया। बी.ए., एम.ए. के

बाद एम.एस. यूनिवर्सिटी, बड़ौदा से पीएच.डी. की डिग्री भी प्राप्त की। अपने भीतर पड़ी कलाओं को भी विकसित किया। भारत के कई राज्यों में करोड़ों लोग पूज्य गुरुमैया के सत्संग, प्रवचन, ज्ञानयज्ञ एवं ध्यान-शिविरों द्वारा लाभान्वित हुए। गुरुमैया के धर्मक्रांतिपूर्ण विचारों का प्रचंड हकारात्मक प्रतिसाद मिला। ऐसे आरोह अवरोह में से गुजरकर एक छोटी सी गंगोत्री धर्मक्रांति एवं ध्यानकार्य करते करते अब तो बन गई है एक महासागर।

अनेक नूतन ध्यान विधियों की पुरस्कर्ता पूज्य माँ यूरोप, आफ्रीका और यू.एस.ए. आदि खंडों में धर्मक्रांति और ध्यानशिविरों के लिए यात्रा कर चुकी हैं। किसी भी धर्मसंप्रदाय के संगठन में जुड़े बिना स्वपुरुषार्थ, आत्मबल और अतिचेतस शक्तियों के द्वारा पूज्य गुरुमैया ने जो नूतन धर्म अभियान का आरंभ किया है उसके लिए पूरा विश्व उसका ऋणी रहेगा तथा नई दृष्टि और नया जीवन पाता रहेगा।

मैं कहता हूँ कि पूज्य गुरुमैया ने विश्व को ध्यान के लिए तंदुरस्त माहोल, विचार, नई दृष्टि एवं दिशाएं दी हैं इसलिए विश्व पूज्य माँ का ऋणि रहेगा। परंतु पूज्य माँ हमेशा कहती हैं कि मैं तो ये सब करके अस्तित्व का ऋण चुका रही हूँ पृथ्वी पर की मेरी यात्रा के दौरान।

—पूज्य गुरुमैया का अनुग्रहपात्र शिष्य
एवं आश्रम का अंतेवासी
योगी स्वामी शैलेश्वर

साधना के सुनहरे सप्त सोपान

१. प्रत्येक विधि अनुभवी ध्यान गुरु के मार्गदर्शन में हो तो ज्यादा अच्छा।
२. प्रत्येक विधियों को अपने ढंग से नहीं परंतु उचित रूप से समझने के बाद ही साधना का आरंभ करें।
३. किसी भी विधि को कम से कम २४ मिनट करें।
४. अनुकूल विधि में कम से कम ३० दिन से लेकर ९६ दिन तक उतरें।
५. यदि संभव है तो इन ९६ दिनों के दौरान कुदरत के सानिध्य में अथवा किसी शांत आश्रम में निवास करें।
६. सात्विक आहार, सज्जनों का संग, मौन और नशाकारक पदार्थों से दूर रहना - ज्यादा हितकर है।
७. साधना समय के वस्त्र अलग रखें। सफेद, भगवा अथवा हरा रंग ज्यादा सहयोग कर पाएगा। वस्त्र खुले और स्वच्छ होने चाहिए।

- : ध्यान मंदिर :-

ए-५, सनमून पार्क, अकोटा, वडोदरा, गुजरात, भारत
www.maaharishwaridevi.com. email: info@maaharishwaridevi.com